उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—२ | फरवरी १९८३ | अंक—२

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५० रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्री रामकृष्ण ने कहा है

(१)

तालाब की काई हटाने पर फिर से अपने आप फैल जाती है, इसी प्रकार माया को एकबार हटाने पर फिर से वह आ घेरती है। पर यदि काई को हटाकर बाँस का बेड़ा बाँध दिया जाय, तो काई बाँस को पार करके दुबारा नहीं आ सकती। इसी तरह माया को हटाकर सद्ज्ञान और भक्ति का बेड़ा लगाये रखने से माया अपने अन्दर नहीं घुस सकती। ऐसी अवस्था में शुद्ध सच्चिदानन्द का ही तेज अन्तरात्मा को प्रकाशित करता रहता है।

(२)

देखो, ज्ञान और अज्ञान के पार हो जाओ, तब उन्हें (ईश्वर को) समझोगे। बहुत कुछ जानने का नाम है अज्ञान। पांडित्य का अहंकार भी अज्ञान है। एक ईश्वर ही सर्वभूतों में हैं, इस निश्चयात्मिका बुद्धि का नाम है ज्ञान। उन्हें विशेष रूप से जानने का नाम है विज्ञान। पैर में काँटा गड़ गया है, उसको निकालने के लिए एक दूसरे काँटे की जरूरत होती है। काँटे को काँटे से निकालकर फिर दोनों काँटे फेंक दिये जाते हैं। पहले अज्ञानरूपी काँटे को दूर करने के लिए ज्ञान रूपी काँटे को लाना होता है। इसके बाद ज्ञान और अज्ञान दोनों को ही फेंक देना पड़ता है; क्योंकि वे ज्ञान और अज्ञान से परे हैं।

विवेकानन्द पंचकम्

—स्वामी रामकृष्णानन्द

अनित्यदृश्येषु विविच्य नित्यं तस्मिन्समाधत्त इह स्म लीलया ।
विवेकवैराग्यविशुद्धचित्तं योऽसौ विवेकी तमहं नमामि ॥१

विवेकजानन्दनिमग्नचित्तं विवेकदानैकविनोदशीलम् ।
विवेकभासा कमनीयकान्ति विवेकिनं तं सततं नमामि ॥२

ऋतं च विज्ञानमधिश्रयद्यन्निरन्तरं चादिमध्यान्तहीनम् ।
सुखं सुरूपं प्रकरोति यस्य आनन्दमूर्तिं तमहं नमामि ॥३

सूर्यो यथांधं हि तमो निहन्ति विष्णुर्यथा दुष्टजनांश्छिनत्ति ।
तथैव यस्याखिलनेत्रलोभं रूपं त्रितापं विमुखीकरोति ॥४

तं देशिकेन्द्रं परमं पवित्रं विश्वस्य पालं मधुरं यतींद्रम् ।
हिताय नृ णां नरमूर्तिमन्तं विवेक आनन्दमहं नमामि ॥५

नमः श्रीयतिराजाय विवेकानन्दसूरये ।
सच्चित्सुखस्वरूपाय स्वामिने ताप हारिणे ॥६

भावार्थ—इस संसार की अनित्य वस्तुओं में से नित्य वस्तु को पृथक् कर जिस विवेकवान ने लीलावश उस नित्य वस्तु में विवेक और वैराग्य के प्रभाव से अपने पवित्र चित्त को समाहित कर लिया था, मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ ।१

विवेक से उत्पन्न आनन्द में जिनका चित्त निमग्न था, जो विवेक का दान करने में ही आनन्दित होते थे, विवेक की आभा से जिनकी कान्ति कमनीय हो गयी थी, उन विवेकी पुरुष को मैं निरन्तर प्रणाम करता हूँ ।२

जिनका सुन्दर रूप सत्य और विज्ञान का आश्रय लेकर नित्य निरन्तर सुख प्रदान करता है, जो आदि, मध्य और अन्त रहित हैं, उन आनन्द की मूर्ति को मैं नमन् करता हूँ ।३

सूर्य जिस प्रकार गहन अन्धकार को निःशेष करता है, विष्णु जिस प्रकार दुष्टों का विनाश करते हैं उसी प्रकार जिनका अखिलनयन लोभनीय रूप तीनों तापोंका हरण करता है —।४

लोक-कल्याण के लिए अवतीर्ण उन महान पथ-प्रदर्शक (आचार्य प्रवर), परम पवित्र, जगत्-पालक आनन्दमय, योगिश्रेष्ठ विवेकानन्द को मैं प्रणाम करता हूँ ।५

श्रीमान्, संन्यासिराज, सच्चिदानन्दस्वरूप, त्रितापहारी, सर्वज्ञ, स्वामी विवेकानन्दजी को प्रणाम ।६

नमामि युगकर्तारम्

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

मैं अक्सर छोटी-बड़ी यात्राएँ करता रहता हूँ। इस क्रम में अनेक तरह के लोगों से मुलकातें होती रहती हैं। उनकी बातें सुनने के अवसर मिलते रहते हैं। कभी-कभी बड़ी दिलचस्प, रोचक और गंभीर बातें करते हैं वे। जब-तब कई व्यक्ति देश की मौजूदा स्थिति पर चिन्ता प्रकट करते हैं। उनका कहना होता है: देश के युवक उद्दण्ड होते जा रहे हैं। युवतियों में शील का अभाव होता जा रहा है। फैशन-परस्ती बढ़ती जा रही है। विदेशी आचार-विचार और पोशाकों का अंधानुकरण होने लगा है—तेजी से। लूट-पाट, हत्याएँ, बलात्कार, धोखाधड़ी और बाल-अपहरण की घटनाएँ दिन-ब-दिन बढ़ रही हैं। दवाओं और खाद्य-सामग्रियों में मिलावट बढ़ रही है। क्षेत्रीयता पनप रही है। जात-पात की संकीर्णताएँ उभर रही हैं। हरिजनों पर अत्याचार बढ़ रहे हैं। चारित्रिक पतन चरमोत्कर्ष पर है। राष्ट्रीय भावना मिटती जा रही है। धर्म और संस्कृति के नाम पर ढकोसले खड़े हो रहे हैं। कुल मिलाकर बड़ी भयावह, शर्मनाक और चिंतनीय स्थिति हो गयी है हमारी। एक बड़े भयानक अँधेरे के दौर से हम गुजर रहे हैं। और उबरने की कोई सूरत नजर नहीं आती। पता नहीं हम कहाँ जा रहे हैं! हमारा पतन अब और कितना, कहाँ तक तथा कब तक होता रहेगा! निराशा के पर्वताकार अंधकार में आशा की कोई किरण उभरती नहीं दिखती है। दुराचार, पापाचार और कदाचार के गहराते समुद्र में डूबने को हम अभिशप्त हैं। आदर्श-पुरुष, कोई राष्ट्रनायक, कोई युगकर्ता ऐसा नहीं दिखता जिसके चरित्र, आचार और उपदेशों पर चलने की हमें अंतःप्रेरणा हो, जिसके बताये मार्ग पर चलकर हम अपना वास्तविक अभ्युत्थान कर सकें।

शिकायतों और हताशा के कारणों की लम्बी सूची वस्तुतः मुझे उद्वेलित करने लगती है। लेकिन मुझे लगता है, हताशा हमारी आत्मिक पराजय को ही सूचित करती है। हम केवल वस्तुस्थितियों की आलोचना करके न अपना उपकार करते हैं, न अपने राष्ट्र का। क्या हमारे पास वस्तुतः आदर्श-पुरुष का अभाव है? जिस देश की गौरवोज्वल सांस्कृतिक, धार्मिक और दार्शनिक परम्परा इतनी पुरानी है, जिस देश को आध्यात्मिकता की इतनी ऊँची विरासत मिली है, उस देश में आदर्श-पुरुष का अभाव कैसे हो सकता है?

मेरी आंखों के सामने एक झंझावाती राष्ट्र-पुरुष, एक सर्वत्यागी, सर्वानुरागी, निष्काम कर्मयोगी, आदर्श गुरु, ऋतम्भरा प्रज्ञा-सम्पन्न युगकर्त्ता और अग्निवर्मा लोकनायक के सम्मोहक व्यक्तित्व की चारुतापूर्ण छवि कौंध जाती है। उस छवि में हमारे अनेक रोगों की औषधि है, हमारी अनेक समस्याओं का समाधान है। उस छवि का नाम है—स्वामी विवेकानन्द।

शायद ही आज की कोई ऐसी समस्या है जिस पर स्वामीजी की तीव्र और पैनी दृष्टि न पड़ी हो और उसका समाधान उन्होंने नहीं प्रस्तुत किया हो। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम उन समाधानों की ओर गहराई से ध्यान दें, उन पर मनन-चिंतन करें और उनपर अमल करें। अगर हमारी शिकायतें बैठे-ठाले का गप हो तो मुझे कुछ नहीं कहना है। अगर हमारी शिकायतों में हमारी आन्तरिक व्यथा है तो हमें स्वामीजी के चरित्र, आदर्श, स्वप्न और संदेश को अपने जीवन में उतारना ही होगा—नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

वर्तमान भारत के अनेक रोगों का एक कारण यह है कि वह अपने मूल केन्द्र से ही हट गया है। क्या है वह मूल केन्द्र? स्वामीजी का वचन है—"प्रत्येक व्यक्ति की भांति प्रत्येक राष्ट्र का भी एक जीवनोद्देश्य है। वही उसके जीवन का केन्द्र है, उसके जीवन का प्रधान स्वर है

जिसके साथ अन्य सब स्वर मिलकर समरसता उत्पन्न करते हैं।...भारतवर्ष में धार्मिक जीवन ही राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र है और वही राष्ट्रीय जीवनरूपी संगीत का प्रधान स्वर है। यदि कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक जीवन-शक्ति को दूर फेंक देने की चेष्टा करे—शताब्दियों से जिस दिशा की ओर उसकी विशेष गति हुई है, उससे मुड़ जाने का प्रयत्न करे—और यदि वह अपने इस कार्य में सफल हो जाय, तो वह राष्ट्र मृत हो जाता है। अतए। यदि तुम धर्म को फेंककर राजनीति, समाजनीति अथवा अन्य किसी दूसरी नीति को अपनी जीवन-शक्ति का केन्द्र बनाने में सफल हो जाओ, तो उसका फल यह होगा कि तुम्हारा अस्तित्व तक न रह जायगा। यदि तुम इससे बचना चाहो, तो अपनी जीवन-शक्ति रूपी धर्म के भीतर से ही तुम्हें अपने सारे कार्य करने होंगे—अपनी प्रत्येक क्रिया का केन्द्र इस धर्म को ही बनाना होगा। तुम्हारे स्नायुओं का प्रत्येक स्पन्दन तुम्हारे इस धर्मरूपी मेरुदण्ड के भीतर से होकर गुजरे।"[1]

कैसी प्रेरक वाणी है यह! एक महत्तम सत्य का कैसा निश्छल उद्घोष है! एक क्रान्तद्रष्टा ऋषि की, आज से केवल सत्तासी वर्ष पूर्व, भारत को दी गयी कैसी चेतावनी थी! और अपने धर्म की धुरी से जुड़े नहीं रहने के कारण ही क्या आज हमारी यह दुर्दशा नहीं हो रही है?

ऐसा नहीं है कि स्वामीजी को राजनीति या राष्ट्रीयता से परहेज था। नहीं, वे राष्ट्र-प्रेम की तो प्रतिमूर्ति ही थे। लेकिन देशभक्ति की उनकी कुछ शर्तें थीं, कुछ मान्यताएँ थीं। हमारी राजनीति को धर्मोन्मुखी होना ही होगा। "भारत में सामाजिक सुधार का प्रचार तभी हो सकता है, जब यह दिखा दिया जाय कि उस नयी प्रथा से आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में कौन-सी विशेष सहायता मिलेगी। राजनीति का प्रचार करने के लिए हमें दिखाना होगा कि उसके द्वारा हमारे राष्ट्रीय जीवन की आकांक्षा—आध्यात्मिक उन्नति—की कितनी अधिक पूर्ति हो सकेगी।"[2]

देशभक्ति के नाम पर आज जिस तरह नैतिकता का, मूल्यों का और उच्च आदर्शों का परित्याग कर स्वार्थ-परायणता, संकीर्णता, छल और क्षुद्रता का सहारा लिया जाता है उसके कुपरिणाम किसी से छिपे नहीं हैं। किन्तु, स्वामीजी ने देशभक्ति की तीन अनिवार्य शर्तों को प्रस्तुत कर राष्ट्रभक्ति के नये आयाम प्रस्तुत किये। पूरी आत्म-निष्ठा से स्वामी जी ने घोषणा की—"लोग देशभक्ति की चर्चा करते हैं। मैं भी देशभक्ति में विश्वास करता हूँ, और देशभक्ति के सम्बन्ध में मेरा भी एक आदर्श है।" इतना कहकर उन्होंने उन तीन शर्तों या सोपानों की चर्चा की जो देशभक्ति के आवश्यक तत्व हैं। उन्होंने कहा—"पहला है हृदय की अनुभव-शक्ति।......ऐ मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देशभक्तो, तुम अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढँक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुमको निद्राहीन कर दिया है?....क्या उसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो जाने से तुम अपने नाम-यश, पुत्र-कलत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुध बिसर गये हो? क्या तुमने ऐसा किया है? यदि 'हाँ', तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है—हाँ, केवल पहली ही सीढ़ी पर!"

फिर उन्होंने कहा—"क्या केवल व्यर्थ की बातों में शक्तिक्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए तुमने कोई यथार्थ कर्त्तव्यपथ निश्चित किया है? क्या लोगों की भर्त्सना न कर उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है? क्या स्वदेशवासियों को उनकी इस जीवन्मृत

१. विवेकानन्द साहित्य : अद्वैत आश्रम : कलकत्ता पंचम खंड : पृष्ठ ११५
२. वही : वही : वही : पृष्ठ ११५-१६

अवस्था से बाहर निकालने के लिए कोई मार्ग ठीक किया है ? क्या उनके दुःखों को कम करने के लिए दो सान्त्वना-दायक शब्दों को खोजा है ? यही दूसरी बात है।"

अंत में तीसरे सोपान की चर्चा करते हुए स्वामीजी ने कहा—"क्या तुम पर्वताकार विघ्न-बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो ? यदि सारी दुनिया हाथ में नंगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध में खड़ी हो जाय, तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे ? यदि तुम्हारे पुत्र-कलत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्य-लक्ष्मी तुमसे रुठकर चली जाय, नाम की कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या तुम उस सत्य में संलग्न रहोगे ? फिर भी क्या तुम उसके पीछे लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते रहोगे ?.... " क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है ? बस यही तीसरी बात है"[3]

देशभक्ति के लिए स्वामीजी द्वारा प्रस्तुत किये गये इन विचारों को भारत के कल्याण के लिए, अपने जीवन में उतारने की आज कितनी आवश्यकता है, इसे हम आसानी से समझ सकते हैं। वर्त्तमान भारत के देशभक्तों को इन पर ध्यान देना ही होगा।

हमारे तरुणों में पाश्चात्य जगत की वेश-भूषा और आचार-व्यवहार की नकल आज भोंड़ेपन की सीमा तक पहुँच गयी है। वे अपने पुराने मूल्यों को तोड़ने में उत्साह दिखाते हैं। नये मूल्यों का निर्माण वे कर नहीं पाते। ऐसे युवकों से स्वामीजी ने बड़े मर्मस्पर्शी ढंग से अपील की थी—"उतावले मत बनो, किसी दूसरे का अनुकरण करने की चेष्टा मत करो। दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता की निशानी नहीं है; यह एक महान् पाठ है, जो हमें याद रखना है। मैं यदि आप ही राजा की-सी पोशाक पहन लूँ तो क्या इतने ही से मैं राजा बन जाऊँगा ? शेर की खाल ओढ़कर गधा कभी शेर नहीं बन सकता। अनुकरण करना, हीन और डरपोक की तरह अनुकरण करना कभी उन्नति के पद पर आगे नहीं बढ़ा सकता। वह तो मनुष्य के अधःपतन का लक्षण है। जब मनुष्य अपने-आप पर घृणा करने लग जाता है तब समझना चाहिए कि उस पर अंतिम चोट बैठ चुकी है। जब वह अपने पूर्वजों को मानने में लज्जित होता है तो समझ लो कि उसका विनाश निकट है। ... अतएव, भाइयो, आत्मविश्वासी बनो। ...."याद रहे किसी का अनुकरण कदापि न करो। कदापि नहीं। जब कभी तुम औरों के विचारों का अनुकरण करते हो, तुम अपनी स्वाधीनता गँवा बैठते हो।"[4]

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वामीजी दूसरों की अच्छाई से भी कोई सीख नहीं लेना चाहते थे। नहीं, वे दूसरों की अच्छाई को ग्रहण करना चाहते थे, किन्तु अपनी प्रकृति के अनुरूप, अपनी प्रकृति को विनष्ट कर नहीं। उन्होंने कहा था—"हाँ, दूसरों के पास जो कुछ अच्छाई हो, उसे अवश्य ग्रहण करो। हमें दूसरों से अवश्य सीखना होगा। जमीन में वीज बो दो, उसके लिए पर्याप्त मिट्टी, हवा और पानी की व्यवस्था करो; जब वह बीज अंकुरित होकर कालान्तर में एक विशाल वृक्ष के रूप में फैल जाता है, तब क्या वह मिट्टी बन जाता है, या हवा या पानी ? नहीं, वह तो विशाल वृक्ष ही बनता है—मिट्टी, हवा और पानी से रस खींचकर वह अपनी प्रकृति के अनुसार एक महीरुह का रूप ही धारण करता है। उसी प्रकार तुम भी करो—औरों से उत्तम बातें सीखकर उन्नत बनो। जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है।"[5]

यह सच है कि देश आज अनेक कुरीतियों के अंधकार में आ फँसा है। लेकिन बुराइयों का रोना रोने मात्र से ही तो काम नहीं चलने का ! हमें अच्छाइयों की ओर जाना ही होगा। स्वामीजी ने बड़े प्रेरक शब्दों में एक मंत्र दिया था—"मैंने भारतवासियों से बारम्बार कहा है और अब भी कह रहा हूँ कि कमरे में यदि सैकड़ो वर्षों से अन्धकार फैला हुआ है, तो क्या 'घोर अन्धकार !', 'भयंकर अन्धकार !!' कहकर चिल्लाने से अन्धकार दूर हो जायगा ? नहीं; रोशनी जला दो, फिर देखो कि अँधेरा

३. विवेकानन्द साहित्य : पंचम खंड : पृ० १२०-२२
५. वही : वही : पृ० २७३
४. विवेकानन्द साहित्य : पंचम खंड : पृष्ठ २७२

आप ही दूर हो जाता है या नहीं ! मनुष्य के सुधार का, उसके संस्कार का यही रहस्य है । उसके समक्ष उच्चतर बातें उच्चतर प्रेरणाएँ रखो; पहले मनुष्य में, उसकी मनुष्यता में विश्वास रखो।…लोगों से यह भी कहने की आवश्यकता नहीं कि तुम लोग जो कुछ कर रहे हो, वह ठीक नहीं है, खराब है। जो कुछ अच्छा है, उसे उनके सामने रख दो; फिर देखो, वे कितने आग्रह के साथ उसे ग्रहण करते हैं।"[6]

तो हमें केवल देश की दुर्दशा और दुरवस्था की चर्चा नहीं करनी है। ऐसा करके हम केवल अपना मनोरंजन करते हैं। "मेरी बात पर ध्यान दो। यदि तुम देश की भलाई करना चाहते हो तो तुममें से प्रत्येक को गुरु गोविन्द सिंह बनना पड़ेगा। तुम्हें अपने देशवासियों में भले ही हजारों दोष दिखायी दें, पर तुम उनकी रग-रग में बहने वाले हिन्दू रक्त की ओर ध्यान दो। तुम्हें पहले अपने इन स्वजातीय नर-रूप देवताओं की पूजा करनी होगी, भले ही वे तुम्हारी बुराई के लिए लाख चेष्टा किया करें। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति यदि तुम पर अभिशाप और निन्दा की बौछार करे तो भी तुम इनके प्रति प्रेमपूर्ण वाणी का ही प्रयोग करो। यदि ये तुम्हें त्याग दें, पैरों से ठुकरा दें तो तुम उसी वीर केसरी गोविन्द सिंह की भाँति समाज से दूर जाकर नीरव भाव से मौत की राह देखो। ….. हमें अपने सामने सदा इसी प्रकार का आदर्श रखना होगा। पारस्परिक विरोध-भाव को भूलकर चारों ओर प्रेम का प्रवाह बहाना होगा।"[7]

विदेश से लौटने पर बड़े मार्मिक शब्दों में स्वामीजी ने मद्रास में अपने देशवासियों को निर्देश दिया था—"ऐ मेरे स्वदेशवासियो, मेरे मित्रो, मेरे बच्चो, .. यदि हमारे इस समाज में, इस राष्ट्रीय जीवन-रूपी जहाज में छेद है, तो हम तो उसकी संतान हैं। आओ चलें, उन छेदों को बन्द कर दें—उसके लिए हँसते-हँसते अपने हृदय का रक्त बहा दें। और यदि हम ऐसा न कर सकें तो हमें मर जाना ही उचित है। हम अपना भेजा निकालकर उसकी डाट बनायेंगे और जहाज के उन छेदों में भर देंगे। पर उसकी भर्त्सना न करें। इस समाज के विरुद्ध एक कड़ा शब्द तक न निकालो।"[8]

स्वामीजी ने समाज के दीन-हीन, उपेक्षित और कमजोर वर्ग के लोगों के अभ्युत्थान, ऊँच-नीच के भेद के समापन और सबके बीच धर्मशास्त्र के समभाव से प्रचार-प्रसार पर विशेष ध्यान दिया था। अपने एक प्रमुख भाषण में स्वदेशवासियों का आह्वान करते हुए उन्होंने वज्रघोष किया था—'यदि वंशानुक्रम के आधार पर पैरियों (दक्षिण भारत की एक अस्पृश्य जाति) की अपेक्षा ब्राह्मण आसानी से विद्याभ्यास कर सकते हैं, तो उनकी शिक्षा पर धन व्यय मत करो। दुर्बलों की सहायता पहले करो, क्योंकि उनको हर प्रकार के प्रतिदान की आवश्यकता है। भारत के इन दीन-हीन लोगों को, इन पददलित जाति के लोगों को, उनका अपना वास्तविक रूप समझा देना परमावश्यक है। जात-पाँत का भेद छोड़कर, कमजोर और मजबूत का विचार छोड़कर, हर एक स्त्री-पुरुष को, प्रत्येक बालक-बालिका को, यह सन्देश सुनाओ और सिखाओ कि ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और बड़े-छोटे सभी में उसी एक अनन्त आत्मा का निवास है, जो सर्वव्यापी है, इसलिए सभी लोग महान् तथा सभी लोग साधु हो सकते हैं।"[9]

भारत मूलतः विभिन्न सद्वृत्तियों, सद्गुरुओं और सद्धर्मों का देश है। क्षमा, करुणा, त्याग, तितिक्षा, आत्मसंधान और सर्वमंगला शिवात्मक दृष्टि इसकी विशेषता है। इस देश का भविष्य उज्वल है। इसका विनाश नहीं हो सकता। निराशा के गहराते अंधकार में आशा, उत्साह और विश्वास की किरण-डोर बिखेरते हुए स्वामीजी ने भविष्यवाणी की—"क्या भारत मर जायगा ? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जायगा, सारे सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जायगा, धर्म के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जायगी, सारी भावुकता का भी लोप हो जायगा। और उसके स्थान में कामरूपी देव और विलासिता रूपी देवी राज्य करेगी।

६. विवेकानन्द साहित्य : पंचम खंड : पृष्ठ २७५-७६
७. वही : वही : पृष्ठ २७१
८. वही : वही : पृष्ठ १२२.
९. वि० सा० : पंचम खंड : पृष्ठ ८९

धन उनका पुरोहित होगा। प्रतारणा, पाशविक बल और प्रतिद्वन्द्विता, ये ही उनकी पूजा पद्धति होंगी और मानवता उनकी बलि सामग्री हो जायगी। ऐसी दुर्घटना कभी हो नहीं सकती।"[10]

तो मेरे मित्रो, ये हैं कुछ ऐसे विलक्षण संदेश, एक युग निर्माता, एक आदर्श गुरु, एक वीतरागी राष्ट्रभक्त संन्यासी स्वामी विवेकानन्द के, जो आज भी हमारा मार्ग-दर्शन कर सकते हैं, वर्तमान भयावह स्थितियों से उबरने के लिए। हमें इन संदेशों की ओर मुड़ना ही होगा, इन उपदेशों को अपनाना ही होगा, इन आदर्शों पर चलना ही होगा, अपने और पूरे भारत के कल्याण के लिए, मंगल के लिए। भगिनी निवेदिता ने कहा है: "विवेकानन्द की कृतियों का संगीत शास्त्र, गुरु तथा मातृभूमि—इन तीन स्वर-लहरियों से निर्मित हुआ है। उनके पास देने योग्य यही निधि थी। इन्हीं से उन्हें वे उपकरण मिले जिनसे विश्व-विकार को दूर करनेवाली आध्यात्मिक सम्पत्ति का परिपाक उन्होंने प्रस्तुत किया।" मैं उन्हीं ज्योति किरीटी, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, आर्तनाथ, युगकर्त्ता स्वामी विवेकानन्द को नमन् करता हुआ उनसे आन्तरिक प्रार्थना करता हूँ कि वे हमें, भारत के हम कोटि-कोटि निवासियों को, अपने आदर्शों और उपदेशों पर चलने की प्रेरणा, शक्ति और प्रकाश प्रदान करें। जय स्वामीजी!

१०. वि० सा० : नवम् खंड : पृष्ठ ३७७.

गरीबपरवर—विवेकानन्द

श्रीमत स्वामी आत्मानन्दजी महाराज

सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

माता कन्याकुमारी का दर्शन करने के उपरान्त परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द तीन महासागरों के बीच अवस्थित उस एकाकी चट्टान पर पहुँच कर अत्यन्त आकुल हो उठे थे। समूचे भारत की यात्रा के दौरान उन्होंने कोटि-कोटि मानवों की जिस अतल व्यापी दरिद्रता, पीड़ा और अज्ञान की तुमुलराशि का अवलोकन किया था, वह सागर की प्रलयंकारी विक्षुब्ध लहरों के समान उनके आपार संवेदनशील मन पर वज्राघात तुल्य कष्ट पहुँचा रही थी। उनका हृदय इस दुरवस्था का कारण जानने के लिए छटपटाने लगा था। सहसा उनकी आँखों के सामने से विषाद का काला आवरण नष्ट हो गया और उन्हें विराट और अपराजेय भारत के—महत्तर सम्भावनाओं से युक्त भारत के— दर्शन हुए। उन्हें यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि भारत की विशाल विपन्न जनता के दुःखों का एकमात्र कारण है भारतीय समाज पर आच्छन्न स्तूपाकर अन्धविश्वास। ये अन्धविश्वास कैसे पनपे? पुरोहितों की स्वेच्छाचारिता से, उनके अत्याचारों से, जातिभेद की निर्मम कठोरता से, और इन सबके फलस्वरूप उत्पन्न जघन्य सामाजिक विषमताओं से। इन सबने मिलकर धर्मभीरु, सरलहृदय, निष्कपट लोगों को तो नीच और अस्पृश्य बना दिया और जो वृथा जाति के अभिमानी, धर्मध्वजी, पाखण्डी जन थे, उन्हें समाज का सिरमौर करार दिया। यही भारत के अधिकांश जनसमुदाय की गरीबी का एकमात्र कारण है। ये दीन और गरीब एक बार कुचले गये तो कुचलाते ही गये, वे फिर न उठ सके। भारत के इन दुःखियों की याद से उनकी अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

गरीब, गुलाम, परमुखापेक्षी और परमुखावलम्बी भारतवासियों की गरीबी को दूर करने की आकुलता ही स्वामी विवेकानन्द को सात समुद्र पार अमेरिका ले

गयी थी। उन्होंने कहा था—मैं गरीब हूँ—गरीब को प्यार करता हूँ। मैं इस देश (अमेरिका) के गरीब कहलानेवाले लोगों को देख रहा हूँ। उनकी अवस्था मेरे देश के गरीबों की अपेक्षा बहुत अच्छी है। तो भी, उनके लिए अमेरिका के न जाने कितने हृदय रोते हैं, और हमारे देश में ? वहाँ के सदा से पददलित बीस कोटि स्त्री-पुरुषों के लिए भला किसका हृदय रोता है ? उनकी मुक्तिका क्या उपाय है ? वे अन्धकार से प्रकाश में नहीं आ पाते, उन्हें शिक्षा नहीं मिल सकती, कौन उन्हें आलोक दिखाएगा ? स्वामीजी ने भारत लौटने पर कहा था—जब मैं पश्चिमी देश में था, तो जगन्माता से प्रार्थना किया करता था, "माँ, यहाँ के लोग तो फूलों की सेज पर सोते हैं, भाँति-भाँति के उत्तमोत्तम भोजन करते हैं और कोई ऐसा सुख नहीं है जो वे नहीं भोगते, जबकि मेरे देश के लोग भूखों मर रहे हैं। अम्बे, क्या उनके लिए कोई उपाय नहीं है ?" पश्चिम में जाकर धर्म का प्रचार करने का एक कारण यह भी था कि मैं अपने देशवासी भाइयों के पेट भरने का उपाय ढूँढ़ना चाहता था।

स्वामी विवेकानन्द यह जानते थे कि भारतवासियों की दुरवस्था का निराकरण तभी सम्भव है जब शिक्षित जन उत्पीड़ित जनता से प्रेम करें। इसीलिए देशभक्ति का पहला प्रतिमान रखते हुए उन्होंने पूछा था—क्या तुम अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों के करोड़ों वंशज पशुतुल्य बन गये हैं ? क्या तुम अनुभव करते हो कि करोड़ों देशवासी आज भूखे मर रहे हैं और करोड़ों युगों से भूखे मरते आ रहे हैं ? क्या तुम अनुभव करते हो कि देश पर अज्ञान के काले बादल छाये हुए हैं ? क्या इसने तुम्हें बेचैन कर दिया है ? क्या इसने तुम्हारी आँखों से नींद छीन ली है ? क्या यह वेदना तुम्हारे रक्त में मिलकर तुम्हारी धमनियों में पहुँच गयी है, तुम्हारे हृदय की धड़कन के साथ एकाकार हो गयी है, क्या इसने तुम्हें लगभग विक्षिप्त कर डाला है ? क्या सर्वनाश की इस व्यथा ने तुम्हें पूरी तरह झकझोर डाला है ? यदि हाँ, तो समझो तुमने देशभक्ति के प्रथम सोपान पर कदम रखा है। गरीबी और अज्ञान में सदा से डूबे हुए उन बीस करोड़ नर-नारियों की वेदना का अनुभव ही कौन करता है ? वे यह भी भूल गये हैं कि वे मनुष्य हैं। और उसी का परिणाम है गुलामी।

स्वामीजी का दृढ़ विश्वास था कि भारत का पुन-निर्माण दुःखी और विपन्न जनता के दुःखों के नाश से ही होगा, इसीलिए उन्होंने युवकों को इस महत्कार्य में दीक्षित करते हुए कहा था—जाओ, उस पार्थसारथि के मन्दिर में जाओ। उसके सम्मुख शीश नवाओ, जो गोकुल के दीन ग्वालों का सखा था, जो गुह और चाण्डाल का आलिंगन करने में कभी नहीं हिचका, जिसने अपने बुद्धावतार में कुलीनों का निमंत्रण ठुकराकर एक वेश्या का निमंत्रण स्वीकार किया और उस पतिता का उद्धार किया। अरे ! अपने मस्तकों को उसके सामने झुकाओ और बड़ा बलिदान करो। अपना सम्पूर्ण जीवन उसके लिए बलिदान कर दो जिसके लिए ही वह समय-समय पर अवतार लेता है, जिन गरीबों, दलितों, हीनों को वह सबसे अधिक प्यार करता है। तब संकल्प करो अपने सम्पूर्ण जीवन को इन बीस कोटि भारतवासियों के पुनरुद्धार के महायज्ञ में आहुति देने का, जो दिनों-दिन पतन के गर्त में जा रहे हैं।

स्वामीजी ने दलितों और पीड़ितों की सेवा को ही धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया था। वे चाहते थे कि धर्म केवल व्याख्यानों और प्रवचनों तक ही सीमित न रहे, वरन् यह सेवा के रूप में प्रकट हो। वे भूखे पेट वालों के समक्ष धर्म की चर्चा करना एक भीषण पाप समझते थे तथा ऐसा करनेवाले लोगों से उन्हें बेहद चिढ़ थी। तभी तो उन्होंने हृदय के आवेग में कहा था—

'I do not believe in a relegion that can not wipe the widow's tears and stop the orphan's wails. मैं ऐसे धर्म में विश्वास नहीं करता जो विधवाओं के आँसू पोंछने में समर्थ नहीं है, मैं एसे धर्म का विश्वासी नहीं हूँ जो अनाथ बालक के करुण रुदन को चुप नहीं करा सकता।" स्वामीजी का कहना था कि यदि एक भूखे के पास तुम धर्म को ले जाना चाहते हो, तो प्रवचन या शास्त्रग्रन्थों के रूप में न ले जाओ, ले जाओ रोटी के टुकड़े के रूप में। उसी प्रकार, नंगे मनुष्य के पास धर्म वस्त्र के टुकड़े के रूप में पहुँचे। 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' के स्वामीजी के महान् मन्त्र का यही आशय

था। इसीलिए उन्होंने भारतवासियों को इसी विराट नर-रूपी नारायण को पूजने का उपदेश दिया था।

स्वामीजी जानते थे कि भारत की अधिकांश गरीबी का कारण यहाँ का तथाकथित उच्चवर्ग भी है जिसने शताब्दियों से जन समाज का निर्बाध रूप से शोषण किया है। इन्हें प्रताड़ित करते हुए उन्होंने कहा था—ओ भारत के उच्चवर्गी! क्या तुम समझते हो कि तुम जीवित हो? तुम अब दस हजार साल पुरानी 'ममी' (सुरक्षित शव) मात्र रह गये हो। वास्तव में तुम चलते-फिरते शव हो। स्वामीजी चाहते थे कि भारत के ये उच्चवर्ग अपनी अन्याय, उत्पीड़न और शोषण से प्राप्त सम्पदा को उनके सही उत्तराधिकारी दरिद्रों को सौंप दें और स्वयं नष्ट हो जायँ। इनके नाश से ही एक नये भारत का निर्माण होगा। उन्होंने कहा था—अब तुम अपनी उस सम्पत्ति को उत्तराधिकारियों को सौंप दो और अपनी जगह नवीन भारत को उठने दो। उसे उठने दो—हल की मुठिया पकड़े किसानों के झोपड़ों से, मछुओं, मोचियों और भंगियों के झोपड़ों से। उसे पंसारी की दुकान से प्रकट होने दो। कबाड़िये की भट्ठी से प्रकट होने दो। उसे कल-कारखानों, हाट बाजारों से उदित होने दो। उसे वन-उपवनों, गिरि-पर्वतों से निकलने दो। तुम अन्तर्धान हुए नहीं कि तुम अपने कानों से पुनर्जागृत भारत के जन्म की घोषणा सुनोगे जो लक्षावधि मेघ-गर्जनाओं के समान सम्पूर्ण विश्व में प्रतिध्वनि कर उठेगी, 'वाह गुरु की फतह।'

स्वामीजी ने कहा था—मेरी समझ में जन-साधारण की अवहेलना करना ही हमारा महान् राष्ट्रीय पाप है और वह हमारी अवनति का एक कारण है। जब तक भारत की साधारण जनता उत्तम रूप से शिक्षित नहीं हो जाती, जब तक उसे खाने-पीने को अच्छी तरह से नहीं मिलता; तब तक कितना ही राजनीतिक आन्दोलन क्यों न हो उससे कुछ फल न होगा। ये बेचारे गरीब हमारी शिक्षा के लिए पैसा देते हैं, हमारी धार्मिक सिद्धि के लिए परिश्रम से बड़े-बड़े मन्दिर खड़े करते हैं, पर इसके बदले उनको चिरकाल ठोकरों के सिवाय और क्या मिला है? वास्तव में वे हमारे गुलाम बन गये हैं। यदि हम भारत का पुनरुद्धार चाहते हैं तो हमें अवश्य ही उनके लिए कार्य करना होगा।

इस महान् राष्ट्रीय पाप को नष्ट करने के लिए स्वामीजी ने कतिपय योग सुझाव दिये थे। उनका विचार था कि अज्ञान का यह गहन अंधकार जन समाज में शिक्षा के व्यापक प्रसार से ही दूर हो सकता है। वे आलस्य को भी राष्ट्रीय अधोगति का एक प्रमुख कारण समझते थे तथा यह चाहते थे कि तमोगुण से डूबे हुए देश में रजोगुण का प्रचार किया जाना चाहिए। भारतवासियों के भौतिक अभावों को दूर करने के लिए उन्होंने नये व्यवसायों को खोलने के पक्ष में स्फूर्तिप्रद विचार रखे थे। वे एक क्रान्तिद्रष्टा ऋषि थे। उन्होंने भविष्य में अभ्युदयशील लोकोदय की स्वर्ण चेतना का दर्शन करते हुए यह घोषणा की थी कि—कोई फिर से अपने ग्रन्थों के भारत को, अपने अध्ययन और अपने सपनों के भारत को देखने की इच्छा भले ही कर सकता है; पर मेरी आशा फिर से उस भारत को देखने की है, जिसकी अतीत की विशेषताएँ इस युग की विशेषताओं के द्वारा स्वाभाविक रूप से सम्बंधित हुई हैं। भविष्य का भारत अतीत के भारत की अपेक्षा अनन्तगुणा महिमामण्डित होने वाला है। स्वामीजी इसी की भविष्यवाणी करते हुए कहते हैं—अद्भुत गौरवशाली भारत आनेवाला है—मुझे निश्चय है कि वह आ रहा है—वह महत्तर भारत जैसा वह पहले कभी नहीं था।

आधुनिक भारत की गतिविधियाँ स्वामी विवेकानन्द के इसी स्वर्ण-स्वप्न को साकार करने का प्रयास करती-सी दीख रही हैं। आइए, हम भी अपने मन-प्राण से इस स्वर्ण-भविष्य को तात्कालिक वर्त्तमान में परिणत करने के लिए गरीब-परवर स्वामी विवेकानन्द के इस अमृत स्फुरण को अपने प्राण-प्राण में अनुभव करें—'ऐ वीर, साहस का अवलम्बन करो। गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। तुम चिल्लाकर कहो कि मूर्ख भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी सभी मेरे भाई हैं। भारत के दीन-दुखियों के साथ एक होकर गर्व के साथ पुकारकर कहो, प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत की देव-देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, जवानी की फुलवारी और बुढ़ापे की काशी है। भाई, कहो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है।

(आकाशवाणी, रायपुर से साभार)

स्वामी विवेकानन्द

—भगिनी क्रिश्चिन

(लेखिका अमेरिका की एक अभिजात श्रेणी की महिला थीं। स्वामी विवेकानन्द के सम्पर्क में आने के पश्चात् उन्हें आध्यात्मिक जीवन यापन करने की प्रेरणा मिली। यह निबन्ध स्वामी जी के प्रति उनकी गम्भीर श्रद्धा तथा भक्ति का द्योतक है—सं०)

कभी-कभी समय की दीर्घ अवधि के बाद एक ऐसा मनुष्य हमारे इस ग्रह में आ पहुँचता है, जो असंदिग्ध रूप से दूसरे किसी मंडल से आया हुआ एक पर्यटक होता है; जो उस अति दूरवर्ती क्षेत्र की, जहाँ से वह आया हुआ है, महिमा, शक्ति और दीप्ति का कुछ अंश इस दुःखपूर्ण संसार में लाता है। वह मनुष्यों के बीच विचरता है, लेकिन वह इस मर्त्यभूमि का नहीं है। वह है एक तीर्थ-यात्री, एक अजनबी—वह केवल एक रात के लिए ही यहाँ ठहरता है।

वह अपने चारों ओर के मनुष्यों के जीवन से अपने को सम्बद्ध पाता है, उनके हर्ष—विषाद का साथी बनता है; उनके साथ सुखी होता है, उनके साथ दुःखी भी होता है; लेकिन इन सबों के बीच, वह यह कभी नहीं भूलता कि वह कौन है, कहाँ से आया है और उसके यहाँ आने का क्या उद्देश्य है। वह कभी अपने दिव्यत्व को नहीं भूलता। वह सदैव याद रखता है कि वह महान् तेजस्वी एवं महा-महिमान्वित आत्मा है। वह जानता है कि वह उस वर्णना-तीत स्वर्गीय क्षेत्र से आया हुआ है, जहाँ सूर्य अथवा चन्द्र की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह क्षेत्र आलोकों के आलोक से आलोकित है। वह जानता है कि जब "ईश्वर की सभी सन्तानें एक साथ आनन्द के लिए गान कर रही थीं," उस समय से बहुत पूर्व ही उसका अस्तित्व था।

ऐसे एक मनुष्य को मैंने देखा, उसकी वाणी सुनी और उसके प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की। उसी के चरणों में मैंने अपनी आत्मा की अनुरक्ति निवेदित की।

इस प्रकार का मनुष्य सभी तुलना के परे है, क्योंकि वह समस्त साधारण मापदण्डों और आदर्शों के अतीत है। अन्य लोग तेजस्वी हो सकते हैं, लेकिन उसक मन प्रकाशमय है, क्योंकि वह समस्त ज्ञान के स्रोत के साथ अपना संयोग स्थापित करने में समर्थ है। साधारण मनुष्य की भाँति वह ज्ञानार्जन की मंथर प्रक्रियाओं द्वारा सीमित नहीं है। अन्य लोग शायद महान् हो सकते हैं, लेकिन यह महत्त्व उनके अपने वर्ग के दूसरे लोगों की तुलना में ही सम्भव है। अन्य मनुष्य अपने साथियों की तुलना में साधु, तेजस्वी, प्रतिभावान हो सकते हैं। पर यह सब केवल तुलना की बात है। एक सन्त साधारण मनुष्य से अधिक पवित्र, अधिक पुण्यवान, अधिक एकनिष्ठ है। किन्तु स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में कोई तुलना नहीं हो सकती। वे स्वयं ही अपने वर्ग के हैं। वे एक दूसरे स्तर के हैं, न कि इस सांसारिक स्तर के। वे एक भास्वर सत्ता हैं, जो एक सुनिर्दिष्ट प्रयोजन के लिए दूसरे एक उच्चतर मण्डल से इस मर्त्यभूमि पर अवतरित हुए हैं। कोई शायद जान सकता था कि वे यहाँ पर दीर्घ काल तक नहीं ठहरेंगे।

इसमें क्या आश्चर्य है कि प्रकृति स्वयं ऐसे मनुष्य के जन्म पर आनन्द मनाती है, स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं और देवदूत कीर्ति-गान करते हैं?

धन्य है वह देश, जिसने उसको जन्म दिया है, धन्य हैं वे मनुष्य, जो उस समय इस पृथ्वी पर जीवित थे; और धन्य हैं वे कुछ लोग—धन्य, धन्य, धन्य—जिन्हें उनके पादपद्मों में बैठने का सौभाग्य मिला था।[1]

१. विवेकानन्द साहित्य : प्रथम खण्ड।

ध्यान : स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में

—श्रीमत स्वामी अनन्यानन्द जी महाराज
अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम, मायावती, (हिमालय)

प्रस्तावना

आधुनिक मनोवैज्ञानिक दिन-दिन पहले से अधिक ऐसा मानने लगे हैं कि तीव्र गतिशीलता से जीनेवाले आधुनिक मनुष्य को आज के संसार में संतुलित रखने के लिए ध्यान को उसके नित्य-प्रति के जीवन एवं दैनंदिन का अनिवार्य अंग होना चाहिए। ध्यान मन को शान्त करता है, आत्मस्थता प्रदान करता है, और हमें अपनी मानसिक शक्तियों को एकाग्र करने में कुशल बनाता है। विवेक के आलोक में स्वचेष्टित साधन-अभ्यासों से हम उन दैवी सम्पदाओं को विकसित कर सकते हैं जिनसे मानवीय हृदयों में कोमल भाव उद्रिक्त होते हैं, उनके अन्तर्सम्बन्ध सहज-मधुर हो जाते हैं, और जो उनकी पारस्परिक सद्भावना एवं संवेदनशील समझदारी के लिए एक दृढ़ आधार हैं। नित्य नियमित ध्यान की अंतिम, किन्तु सर्वाधिक, उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा स्त्री-पुरुष परम सत्य की खोज में अपनी शक्तियों का नियोजन कर सकते हैं और उसके फलस्वरूप उस आध्यात्मिक शांति एवं परमानन्द को प्राप्त कर सकते हैं, जो मानवीय बुद्धि के परे है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार 'धर्म मनुष्य में अन्तर्निहित ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति है।' ध्यान वह साधना या प्रक्रिया है जिससे जीव अपने को आवृत करनेवाली अज्ञान की परतों को उद्घाटित एवं तिरोहित करता है और अपने ही अस्तित्व में साररूप से गुप्त ईश्वरत्व की खोज करता है। इस ध्यान-साधना में त्रिविध प्रक्रिया का विधान है। श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन जिनका निष्पादन करने के लिए अध्यात्म-जीवन की पूर्वापेक्षाओं अर्थात् साधन-चतुष्टय[1] से सम्पन्न होना अनिवार्य है। इसे हम क्रमिक आध्यात्मिक अनावरण या प्रकाशन की प्रक्रिया कह सकते हैं, जो आत्मा के ज्ञान में पर्यवसित होती है। लेकिन यह ज्ञानियों या वेदांतियों की भाषा है—दार्शनिक, ज्ञानसाधक या ज्ञानयोगी की भाषा है।

भक्तों की भाषा में ध्यान वह साधना है जिसमें जीव अपनी आत्मसत्ता को ही भगवान् में प्रवाहित करता है—एक पात्र से दूसरे पात्र में डाली जाने वाली तैलधार की तरह अनवच्छिन्न, और स्वयं को उन्हीं में निमज्जित होकर खाली कर लेता है, समुद्र में प्रवाहित होनेवाली नदियों की तरह। उनकी छत्रछाया में, उनके हृदय में दृढ़ता से चिपका हुआ, जीव निर्भय एवं निश्चित अनुभव करता है। भक्ति-साधना में ध्यान जीवात्मा और परमात्मा में सम्बन्ध-स्थापन के लिए सम्पर्क—सेतु का कार्य करता है।

ध्यान क्या है ?

'ध्यान क्या है ?' स्वामी विवेकानन्द पूछते हैं, और स्वयं उत्तर देते हैं : 'ध्यान वह शक्ति है जो हमें इन सबका (अपने अभीप्सित निःश्रेयस के महापथ से भटकानेवाले नानाविध जगत के उन्मादक नाम-रूपों का) सामना करने के योग्य बनाती है। प्रकृति प्रलोभन के स्वर में पुकारती है, "देखो, वहाँ एक सुन्दर वस्तु है।" मैं नहीं

---

१. साधन-चतुष्टय : ये हैं (क) नित्यानित्य वस्तु-विवेक, (ख) इहामुत्रफल-भोग-विराग, (ग) शमादि षट् सम्पत्ति—अर्थात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, शास्त्र एवं सद्गुरुवाणी में श्रद्धा, समाधान अर्थात् अपनी बुद्धि को सब प्रकार शुद्ध ब्रह्म में सदा स्थिर रखना और (घ) मुमुक्षत्व अर्थात् परामुक्ति या कैवल्य के लिए तीव्र अभीप्सा।

श्री आद्यशंकराचार्य विरचित 'विवेक-चूड़ामणि, : श्लोक १८-२७.

ध्यान देता, नहीं देखता हूँ। अब वह कहती है, "कितनी अच्छी सुगन्ध है, सूँघ लो इसे।" मैं अपनी नाक को कहता हूँ, "इसे मत सूँघो", और नाक सुगन्ध नहीं लेती है। "आँखें, मत देखो।" (और आँखें नहीं देखती हैं।) प्रकृति भयंकर विपत्ति घटित करके—मेरी संतानों में एक की हत्या करके, कहती है। "नीच दुष्ट! बैठे रहो अब, और रोते रहो!" दुःख की गहराइयों में जाकर मैं संकल्प लेता हूँ: "मुझे ऐसा नहीं करना है।" मैं एक छलाँग लगाकर ऊपर आ जाता हूँ, घोर विपत्ति को अतिक्रांत करते हुए! मुझे स्वाधीन होना ही है! कभी-कभी ध्यानाभ्यास करके देखो! ध्यान में क्षणभर के लिए, तुम अपनी प्रकृति को बदल सकते हो! अब अगर वह शक्ति तुममें निवास करे, तो वह क्या स्वर्ग नहीं होगा, स्वाधीनता नहीं होगी? ऐसी है ध्यान की शक्ति, उसकी विशिष्ट विभूति।[2]

'इसे कैसे प्राप्त किया जाता है? इसके लिए विभिन्न प्रकार के अनेकानेक मार्ग हैं। प्रत्येक साधक का अपने स्वभाव के अनुसार ही साधन-पथ है। किन्तु एक सामान्य सिद्धान्त यही है: मन को समझो, अपने अधीन रखो। यह एक झील की तरह है जिसमें गिरनेवाला हर पत्थर लहरें उठाता है। ये लहरें ही हमें नहीं देखने देतीं कि हम क्या हैं, हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है? झील के पानी में पूर्ण चन्द्र प्रतिबिम्बित है, लेकिन उसका ऊपरी तल इतना चंचल है कि हम बिम्ब को स्पष्टता से नहीं देखते। यह मन शान्त तो हो ले, इसे शान्त हो जाने दो। प्रकृति को लहरें न उठाने दो: स्थिर शान्ति धारण करो, और तब—थोड़ी देर बाद—वह तुम्हें छोड़ देगी। तब हम जानते हैं कि हम क्या हैं। ईश्वर तो पहले से ही विराजता है, अपने में ही, किन्तु इन्द्रियों के पीछे दौड़-दौड़ कर मन अत्यंत उत्तेजित और चंचल हो गया है। अगर तुम इन्द्रियों के द्वार बन्द भी कर लो, तब भी तुम चक्रायित होते रहते हो, मन घूमता रहता है।'[3]

ध्यान में मन एवं उसकी नैसर्गिक शक्तियाँ एकाग्र होती हैं। अप्रशिक्षित स्थिति में मन बिखरा हुआ या विक्षिप्त रहता है, क्योंकि वह इन्द्रियों से प्राप्त प्रत्येक संवेदन के पीछे दौड़ता रहता है। यह आवश्यक है कि इसे इन्द्रिय-सम्बन्धों से छुड़ाकर एकाग्र एवं समाहित किया जाय, और एकमेव शक्ति के रूप में सघन बनाकर उस लक्ष्य की ओर निर्देशित किया जाय जो पवित्र, दिव्य एवं आध्यात्मिक उन्नयन करानेवाला हो—चाहे वह लक्ष्य सगुण—साकार भगवान् या निर्गुण-निराकार ब्रह्म हो। स्वामी जी कहते हैं: "ध्यान ही वह द्वार है जो हमारे लिए उसे (अनंत आनन्द को) खोल देता है। प्रार्थना, धर्माचार एवं पूजा के सभी कर्मकांड प्राथमिक पाठशाला की तरह हैं, जिनसे उत्तीर्ण होकर हम ध्यान-साधना करने योग्य होते हैं। हम प्रार्थना करते हैं: उसमें कुछ अर्पित करते हैं। पहले से एक सिद्धांत रहा है। इस तरह की प्रत्येक क्रिया से आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है। किन्हीं शब्दों के सम्यक् प्रयोग से, मंत्रों के जप से, फूलों के समर्पण से या विग्रह की सेवा से, मंदिरों में जाने या प्रकाश हिलाकर आरती करने से मानव-मन में आध्यात्मिक भाव-दृष्टि प्रकट हो जाती है, किन्तु वह उन्मुखता सदैव मानवीय आत्म में ही रहती है, किसी दूसरे स्थान पर नहीं। सभी लोग यह करते हैं, किन्तु जो बिना जाने हुए करते हैं, अब समझकर करने लगते हैं। यह ज्ञान जाग्रत करना—अन्तर्ज्ञान उद्‌बुद्ध कर देना ध्यान की शक्ति है।"[4]

जीवात्मा अपना वास्तविक स्वभाव भूल गयी है। सच तो यह है कि उसे इसका ज्ञान नहीं है. इसकी चेतना ही नहीं है। एकाग्रता और ध्यान के द्वारा जीवात्मा अपने वास्तविक स्वभाव का अनुभव कर सकती है। एक प्रक्रिया है—विचार, शब्द एवं कर्म का शुद्धीकरण, जिसे त्रिकरण शुद्धि कहते हैं। यह एक धीमी और क्रमिक प्रक्रिया है। सुनने में लगता है विचित्र, किन्तु

---

2. कमप्लीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द (खंड चार, पृ० २४८)
3. वही
४. वही, पृ० २४९.

यह नकारा नहीं जा सकता कि जब भी हम शान्त बैठकर मन को एकाग्र करने की चेष्टा करते हैं, और इसे किसी ऊर्ध्व आरोहण प्रदान करनेवाले आदर्श पर जमाना चाहते हैं तो यह प्रथमतः विद्रोह करता और आज्ञा-पालन अस्वीकार करता है। ध्येय-वस्तु को छोड़कर—एकाग्रता के लक्ष्य की ओर न जाकर—मन यहाँ-वहाँ, चारो ओर सर्वत्र उड़ता रहता है।

'उन्मत्त वन्दर' से इसकी तुलना करते हुए स्वामीजी अपने 'राजयोग' में मन की दयनीय दशा का चित्रण करते हैं: "मन को संयमित करना कितना कठिन है! ठीक ही, इसकी तुलना उस पागल बन्दर से की गयी है। एक बन्दर था, अपने स्वभाव से चंचल, जैसे सभी बन्दर होते हैं। यह मानो काफी नहीं हो, किसी ने उसे खूब शराब पिलवा दी, जिससे वह और अधिक चंचल हो गया। तब उसे एक बिच्छू ने डंक मार दिया। मनुष्य को अगर बिच्छू डंक मार दे तो वह दिन भर तड़पता रहता है; इसी तरह बेचारे बंदर की दशा भी पहले से अधिक बदतर हो गयी। उसकी पीड़ा को पूर्णता पर पहुँचाने के लिए एक राक्षस भी उसमें प्रवेश कर गया। कौन भाषा वर्णन कर सकती है उसकी अदम्य, विक्षिप्त चंचलता का? मनुष्य का मन उसी बंदर के समान है, अपने स्वभाव से अनवरत चंचल, और तब वह कामना की मदिरा से उन्मत्त होकर इसकी चंचलता बढ़ा लेता है। कामना के वशीभूत होने पर दूसरों की सफलता से होनेवाली ईर्ष्या के रूप में बिच्छू का डंक लगता है। और अन्ततः अभिमान के रूप में राक्षस मन में प्रवेश करता है, जिससे वह अपने को सब तरह से महत्त्वपूर्ण समझने लगता है। इस तरह के मन को संयमित करना कितना कठिन है।"[5]

मन को संयमित करने में सफल होने के लिए, उसे ऊर्ध्व आरोहण प्रदान करनेवाले आध्यात्मिक इष्ट पर एकाग्र करने के लिए, स्वामीजी ने प्रत्याहार-साधना का सुझाव इन शब्दों में दिया है: "पहला अभ्यास यह है कि कुछ देर के लिए बैठें, और मन को दौड़ लगाने दें। यह सदैव चंचल है, बुलबुले उठाता रहता है। मन बंदर की तरह ही चारो ओर उछल-कूद मचाता है। इस बंदर को अपनी शक्ति भर उछलने दें, आप सिर्फ प्रतीक्षा करें और सतर्कतापूर्वक निरीक्षण करें। एक लोकोक्ति के अनुसार ज्ञान ही शक्ति है, बल है, और वह ठीक है। जब तक आप यह समझ न लें कि मन क्या कर रहा है, आप इसे संयमित नहीं कर सकते। लगाम इसके हाथ में देकर निर्बंध छोड़ दें इसे, इसमें बहुत-सारे गंदे विचार आ सकते हैं। और आपको आश्चर्य होगा कि आपके लिए ऐसे विचारों को सोचना संभव था। लेकिन आप देखेंगे कि प्रतिदिन मन की यह बहक, उसकी दौड़, कम हो रही है और प्रतिदिन वह पहले से अधिक शान्त हो रहा है। अभ्यास-क्रम के प्रथम कुछ महीनों में आप पायेंगे कि मन में विचारों की बहुत बड़ी संख्या है, महा विपुलता है, बाद में आप देखेंगे कि वे कुछ कम हो गए हैं, कुछ महीने बाद वे और भी कम हो जाएँगे, तब तक कम होते रहेंगे जबतक अन्ततः मन पूर्णतः संयमित न हो जाय। लेकिन इसके लिए हमें धैर्य पूर्वक नित्य-नियमित अभ्यास करना होगा। उत्तप्त वाष्प की प्रस्तुति के साथ ही इन्जिन अवश्य दौड़ती है; ज्यों ही वस्तुएँ हमारे सामने हुई कि उनका अनिवार्य बोध होता है, तो मानव को—यह सिद्ध करने के लिए कि वह यन्त्र नहीं है—निश्चय ही प्रमाणित करना होगा कि वह किसी वस्तु के अधीन बिल्कुल नहीं है। मन का इस प्रकार का संयमन और इसका विषय-केन्द्रों से जुड़ने को अस्वीकार कर देना, प्रत्याहार है। इसका अभ्यास किस प्रकार किया जाता है? यह एक अति महत् कार्य है, जिसे शीघ्रता से नहीं किया जाता। वर्षों के धीरतापूर्ण, अनवरत संघर्ष के बाद ही हम सफल हो सकते हैं।"[6]

ध्यान का लक्ष्य

'यथाभिमतध्यानाद्वा'[7] अथवा 'जिसको जो अभिमत (इष्ट) हो उसके ध्यान से'—इस पातञ्जल सूत्र पर टिप्पणी देते हुए स्वामीजी चेतावनी देते हैं: "इसका अर्थ कोई दोषयुक्त, गंदी विषय-वस्तु नहीं है, बल्कि कोई आपकी पसंद की शुभ सद्वस्तु—कोई स्थान जिसे आप सबसे अधिक पसंद करते हों, कोई अत्यन्त मनोरम दृश्यावली,

---

५. द कम्प्लीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड १, पृ० १७४। ६. कम्प्लीट वर्क्स, १, पृ० १७४-७५.
७. पातञ्जल योगसूत्र, १, ३९.

कोई अत्यधिक हृदयग्राही विचार, कोई ऐसी वस्तु जिसमें मन रम जाए, एकाग्र हो जाए "[८]

यह कहते हुए कि ध्यान के विविध सोपान हैं, वे बताते है कि किस प्रकार प्रारंभ में लक्ष्य स्थूल होगा, आगे बढ़ने पर सूक्ष्म और तब, क्रमशः सूक्ष्मतर लक्ष्य की ओर गति होगी। ध्यान के लक्ष्य दोनों ही हो सकते हैं—सगुण-साकार भगवान या निर्गुण-निराकार ब्रह्म। सामान्यतः सगुण ध्यान का लक्ष्य है—किसी देवी-देवता का रूप-विग्रह ईश्वर का अवतार या ईश्वर-पुरुष, या कोई पूर्ण महामानव जिसने आध्यात्मिक जीवन की परमोच्चता को प्राप्त किया हो। ध्यान-साधना में इन आत्माओं के नाम-रूपों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सगुण ध्यान के सार-कर्म हैं—अपने इष्टदेव के नाम का जप एवं उनके रूप का ध्यान। इस प्रक्रिया में आध्यात्मिक गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है।

ध्यान का लक्ष्य एक अपौरुषेय रूप, एक प्रतीक भी है—अत्यंत प्राचीन और पवित्र, जो अतिप्राचीन वैदिक युगों से हमें अनुगत हुआ, और आज भी भारत के सभी धर्म-मतों एवं पथों में उच्च भाव से समादृत और पवित्र माना जाता है। यही पवित्र एकाक्षर ओउम् है, जो ॐ की तरह सामान्यतः लिखा जाता है। स्वामीजी इसे "पवित्र शब्दों में सर्वाधिक पवित्र, सभी नाम-रूपों की आद्या माता"[९] ही मानते हैं। और आगे कहते है : इस सनातन ओङ्कार से ही मानो "समस्त विश्व-ब्रह्मांड उत्पन्न हुआ है।"[१०]

"ॐ ही वह एकमात्र संभव प्रतीक है जो ध्यान की समग्र भूमि--समस्त यात्रापथ—को आयत्त करता है, और इस तरह का दूसरा कोई नहीं है ...... विधिपूर्वक ठीक-ठीक उच्चरित होने पर प्रणव-स्वर ध्वनि-उत्पादन की समग्र घटना को प्रकट करता है, और कोई-भी दूसरा शब्द ऐसा नहीं कर सकता। इसलिए यह स्फोट यानी आदि-नाद का सर्वाधिक समीचीन प्रतीक है—आदिनाद, स्फोट ही ओउम् का वास्तविक अर्थ है। वस्तुतः स्फोट एवं ओउम् अभिन्न हैं, क्योंकि वस्तु से उसका प्रतीक अलग नहीं किया जा सकता। व्यक्त ब्रह्मांड का सूक्ष्म आयाम होने के कारण यह स्फोट ईश्वर के निकटतर है, और वस्तुतः ईश्वरीय प्रज्ञा की आदि अभिव्यक्ति है—यह ओउम् सचमुच ईश्वर का प्रतीक है।"[११]

स्वामीजी आगे कहते हैं : "ऋषियों के गंभीरतम आध्यात्मिक बोध के उत्तरोत्तर विकास-क्रम में प्रतिपन्न होनेवाले ये शब्द-बिम्ब ईश्वर एवं जगत् के प्रति उस विशेष दृष्टि को यथासंभव अभिव्यंजित करते हैं, जिसके वे प्रतीक हैं। और ओउम् अखंड, अभेद ब्रह्म को व्यंजित करता है; दूसरे शब्द-प्रतीक उसी एकमेव सत्ता की खंड एवं भेद-दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु वे सभी ईश्वर का ध्यान करने और सत्य ज्ञान को प्राप्त करने में सहायक हैं।"[१२]

उक्त उद्धरणों के प्रकाश में सचमुच हम यह समझ सकते हैं कि संसार की विभिन्न धर्म-प्रणालियों और साधन-अभ्यास की आध्यात्मिक परम्पराओं में मंत्र एवं उसके जप को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

इस संदर्भ में 'योगसूत्र' के 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्'[13]—अर्थात् 'ओउम् का जप और उसके अर्थ पर ध्यानाभ्यास ही मार्ग है।'—का उल्लेख समीचीन है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए स्वामीजी कहते हैं : "जप क्यों किया जाय ? क्या आवश्यकता है इसकी ? हम संस्कारों के उस सिद्धान्त को न भूलें जिसके अनुसार मन पर पड़ी हुई सभी छापों का समूह उसमें सुरक्षित रहता है। ये संस्कार उत्तरोत्तर मन की गहराई में गुप्त होकर वहीं रहते हैं; और अनुकूल उत्तेजना पाते ही बहिर्गत होने लगते हैं, परमाणुओं का कम्पन कभी रुकता ही नहीं ...चित्त की चंचलता के शांत होने पर भी उसके परमाणुओं का अंतकंपन होता रहता है और अवसर पाते ही पुनः बाहर प्रकट होता है। मन के इस परिप्रेक्ष्य में, हम जप का तात्पर्य समझ सकते हैं। यही वह महत्तम संजीवन है जो आध्यात्मिक संस्कारों को उद्बुद्ध एवं घनीभूत करने के

८. कम्प्लीट वर्क्स; पृ० २२७-२८.
९. कम्प्लीट वर्क्स; ३, पृ० ५७.
१०. वही
११. वही पृ० ५७-५८.
१२. वही, पृ० ५९
१३. पातञ्जल योगसूत्र, १, २८

लिए प्रदान किया जा सकता है। 'संतों के साथ क्षणभर का संग इस भवसागर के पार होने के लिए जहाज का काम करता है।' ऐसी महिमा है संतों के साथ रहने की, सत्संग की। इसी तरह, ओउम् का जप एवं उसके अर्थ का मनन, अपने मन में ही होने वाले सत्संग की तरह यानी संतों के संग में रहने जैसा है। अध्ययन करें और तब अधीत वस्तु का ध्यान करें। क्रमशः प्रकाश आपको मिलेगा; आत्मा का प्राकट्य होगा।"[14]

ध्यान के सहायक

ध्यानाभ्यास के लिए साधक को अनुकूल और सहयोगी वातावरण अवश्य मिलना चाहिए। स्वामीजी का सुझाव है: 'आपमें से जो-सब समर्थ हों, वे मात्र अभ्यास करने के लिए एक कमरा रख लें तो ज्यादा अच्छा होगा। अभ्यास के लिए नियत उस प्रकोष्ठ में कभी सोएँ नहीं; उसे अनिवार्यतः पवित्र रखा जाना चाहिए। बिना स्नान किये तथा काय-मन से पूर्णतः पवित्र हुए उसमें कभी प्रवेश नहीं करें। उस कमरे में सदैव फूल सजाए रखें, स्थापित रखें—योगी के लिए फूलों का परिवेश सर्वोत्तम होता है। सुन्दर एवं सुखद चित्र भी सजाए जा सकते हैं। उस पवित्र प्रकोष्ठ में प्रातः सायं अगरु-धूप जलाएं। वहाँ किसी तरह का कोई झगड़ा कभी नहीं करें, न क्रोध का आवेग या अपवित्र विचार ही अपने में आने दें। अपने समान विचार के लोगों को ही उसमें प्रवेश करने दें। तब-धीरे-धीरे-उस प्रकोष्ठ में पवित्रता का वातावरण प्रकट होगा, प्रत्यक्ष और घनीभूत होगा, ताकि पीड़ित, क्लांत, उदास होने पर अथवा मन के किसी तरह क्षुब्ध या विक्षिप्त होने पर, मात्र उसमें आपका प्रवेश ही आपको शांत कर देगा··· ···सिद्धांत यह है कि पवित्र ऊर्जा तरंगों को बनाए रखने से प्रकोष्ठ उद्दीप्त होकर सदैव वैसा ही बना रहता है—उद्दीप्त एवं ऊर्ज्जस्वित। जो साधक अभ्यास करने के लिए अलग कमरा न रख सकते हों, वे भी अपने अनुकूल स्थान पर अभ्यास कर सकते हैं।"[15]

'ध्यान योग' से अभिहित 'भगवद्गीता' के छठे अध्याय में ध्यानाभ्यास के लिए निम्न प्रकार की प्रक्रिया का सुझाव दिया गया है: "शुद्ध स्थान में अपना आसन स्थापित करके—कैसा आसन? जो स्थिर अर्थात् अविचल हो, अधिक ऊँचा और अधिक नीचा न हो तथा जिसपर कुश, व्याघ्रादि चर्म और वस्त्र उत्तरोत्तर बिछे हुए हों—भाव यह है कि उक्त आसन के ऊपर कुशा, कुशा के ऊपर चर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछाकर: जिसके चित्त और इन्द्रियों की क्रियाएँ उपरत हो गयी हैं, वह पुरुष मन को एकाग्र यानी विक्षेप-रहित करके उसकी शुद्धि या उपशांति के लिए योग का अभ्यास करे। (चित्त की एकाग्रता में उपयोगी शरीरादि की धारणाओं को बताते हुए दो श्लोकों में आगे कहते हैं:) 'काय' शब्द से शरीर के बीच का भाग बताना अभीष्ट है। काय, सिर और गला—इन तीनों को अर्थात् मूलाधार से लेकर मूर्धा के अन्त तक समस्त शरीर को सम यानी सीधा और अचल-निश्चल भाव से धारण किए स्थिर यानी दृढ़-प्रयत्न होकर तथा अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगाकर अर्थात् नेत्रों को आधा बंद किए इधर-उधर अन्य दिशाओं को न देखते हुए बैठे। जिसका चित्त भली-भाँति शांत है, जिसका भय नष्ट हो गया है, जो ब्रह्मचारी के व्रत रूप ब्रह्मचर्य पालन में स्थित है, मन का संयम और प्रत्याहार करके यानी मन को सब ओर से हटाकर जिसने एकमात्र मुझमें ही चित्त लगा दिया है एवं मैं ही जिसका परम पुरुषार्थ-लक्ष्य-हूँ, वह मत्परायण पुरुष इस प्रकार योगयुक्त होकर बैठे।"[16]

ऊपर वर्णित 'गीता' की ध्यान-विद्या के अतिरिक्त, इस संदर्भ में स्वयं में स्वामीजी द्वारा दिए गए सुझावों से भी हम लाभ उठा सकते हैं: "आसन पर सीधे एवं सम

१४. कम्प्लीट वर्क्स, खंड १, पृ० २१९-२२०. १५. वही, पृ० १४५.

१६. श्री भगवद् गीता, अ० ६, श्लो० ११-१४.

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासन मात्मनः। नात्युच्छ्रितं नाति नीचं चैलाजिन कुशोत्तरम्॥ ११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत्त चित्तेन्द्रिय क्रियः। उपविश्यासने युज्ज्याद्योगमात्म विशुद्धये॥१२॥
समं काय शिरोग्रीव धारयन्न चलं स्थिर:। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशञ्चानव लोकयन्॥ १३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

श्रीधरी टीका: हिंदी अनुवाद: गीता प्रेस

होकर बैठ जाएँ : और सर्वप्रथम जो करना है,—यह है कि समग्र सृष्टि के प्रति पवित्र विचार का प्रवाह संप्रेषित करें। मन से बार-बार कहें कि "सभी जीव सुखी और प्रसन्न हों, सबको शांति मिले, सभी धन्य एवं आनंदमय हो जाएँ।" और इसी भावधारा को प्रवाहित करें—पूरब, दक्खिन, उत्तर एवं पश्चिम की ओर। आप जितना ऐसा करेंगे, उतना अच्छा स्वयं ही अनुभव करेंगे। ...ऐसा करने के बाद, भगवद् विश्वासी को प्रार्थना करनी चाहिए--रुपये के लिए नहीं, स्वास्थ्य या स्वर्ग के लिए नहीं; ज्ञान एवं दिव्य आलोक के लिए प्रार्थना करें; अन्य सभी प्रार्थनाएँ स्वार्थमूलक हैं। इसके बाद साधक को अपने शरीर पर ही ध्यान देना चाहिए और भावना करनी चाहिए कि वह स्वस्थ एवं सशक्त है। साधना में सिद्ध होने के लिए यह शरीर ही आपका सर्वोत्तम करण है, यंत्र है। इसमें इतने बल एवं बज्रवत सामर्थ्य की धारणा करें कि इसकी सहायता से आप भवसागर पार कर जाएंगे। निर्बल प्राणियों को स्वाधीन जीवन की प्राप्ति कभी नहीं होती। सभी कमजोरियों को उतारकर दूर फेंक दें। अपने शरीर से कहें कि वह दृढ़ है, मन को बुझाएँ कि वह समर्थ है, और स्वयं में असीम विश्वास एवं सफलता की आशा रखें।"[17]

ध्यान के बाधक

मात्र उत्सुकता से या किसी रहस्यमय वस्तु के उद्देश्य से, ध्यान योग का आश्रय लेने वालों के लिए स्वामीजी की चेतावनी को उद्धृत करना यहाँ प्रासंगिक होगा, "योग की पद्धतियों में जो कुछ गुप्त या रहस्यमय है, उसका तत्काल ही त्याग कर दिया जाना चाहिए। शक्ति ही जीवन में सर्वोत्तम पथप्रदर्शक है। धर्म में, या अन्य संदर्भों में, कमजोर बनाने वाली प्रत्येक वस्तु को, छोड़ दें, दूर फेंक दें : इससे किसी प्रकार का लगाव भी नहीं रखें। रहस्यमय का चक्कर मनुष्य के मस्तिष्क को दुर्बल बना देता है। इसने योग को प्रायः नष्ट कर दिया है : जो महाविज्ञानों में से एक महत् दीप्तिमय महाविज्ञान है। चार हज़ार वर्षों से भी पहले से ही—जब इस विज्ञान की खोज हुई—आज तक यह (विज्ञान) भारत में सांगोपांग यानी पूर्णता से सूत्रों में प्रतिपादित, समग्रता से अभिवर्णित, निरूपित और उपदिष्ट होता रहा है। यह एक विचित्र तथ्य है कि योगसूत्रों के भाष्यकार जितने नवीन या आधुनिक हैं, उतनी ही अधिक गलतियाँ करते हैं, और जितने ही प्राचीन हैं उतनी ही उनकी व्याख्या समीचीन और विवेक समर्थित है। अधिकांश आधुनिक भाष्यकार नानाप्रकार की गुह्यताओं एवं गुह्य सिद्धियों की चर्चा करते हैं। इस तरह योग-विज्ञान कुछ ऐसे व्यक्तियों के हाथ में पड़ गया जिन्होंने इस पर स्वाधीन तर्क एवं चमकते-हुए दिन का पूरा प्रकाश न पड़ने देकर, इसे गुह्य रहस्य बना दिया। ऐसा उन्होंने इसलिए किया कि वे स्वयं ही योगशक्तियों के स्वामी बने रहें।"[18]

ध्यान के मुख्य लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए स्वामी जी कहते हैं : "चित्त में उठनेवाली विचार-वृत्ति को इन तरंगों को सयंमित करने के लिए ध्यान एक महान् साधन है। ध्यान के द्वारा मन को आप इन तरंगों पर संयम प्राप्त करने के योग्य बना सकते हैं : और अगर आप दिनों, महीनों और वर्षों तक नित्य-नियमित अभ्यास करते जाएँ, जबतक यह आदत बनकर आपके न चाहने पर भी स्वयं ही आपको होने न लग जाय,—तो आप पायेंगे कि क्रोध एवं घृणा के आवेग भी संयमित या अतिक्रांत हो गए हैं।"[19]

हममें से प्रत्येक के भीतर यथाकथित छः आंतरिक शत्रुओं का निवास है। ये षड्रिपु हमारे साथ जन्मजात हैं : काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। देह धारण करनेवाले प्रत्येक मनुष्य में ये प्रबल आवेग नैसर्गिक हैं—और मानवता की स्थूल, विराट मांसलता के अंग ही हैं। हम प्रायः बहुधा इन आवेगों के अधीन होकर इनसे

---

१७. कम्प्लीट वर्क्स, १, १४५-१४६.
१८. वही, पृ० १३४
१९. वही, पृ० २४२-२४३

विचलित होते रहते हैं, मानो इनके सामने विवश हों। इन्हें रोकना और नियमन करते हुए अपने अधीन कर लेना एवं अंततः इनका उदात्तीकरण निष्पन्न करना ही, सभी आध्यात्मिक संघर्षों का लक्ष्य है। ध्यान एवं आत्मचिंतन से इस संघर्ष में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। प्रत्येक धर्म-प्रणाली और आध्यात्मिक साधन-पद्धति की यही शिक्षा है : आवेगों को उदात्त बनाएँ और उन शक्तियों को अपने आध्यात्मिक श्रेय की ओर नियोजित करें—उन्हें बलपूर्वक दबाएँ नहीं। बलपूर्वक दबाने के अवाञ्छनीय परिणाम हो सकते हैं—मनोवैज्ञानिक उलझनें और व्यतिक्रम, जिनसे सहायता मिलने की जगह अप्रत्याशित बाधाएँ ही उत्पन्न हो जाती हैं। यही कारण है कि उदात्तीकरण को सर्वोत्तम और सर्वाधिक अनुसरणीय साधन बताया गया है।

उदात्तीकरण की उक्त प्रक्रिया में ध्यान एक सहज-सुलभ साधन है, और पर्याप्त उपयोगी भूमिका निभाता है। संक्षेप में, आध्यात्मिक जीवन का तात्पर्य ही है इन 'आंतरिक षड् रिपुओं' का उदात्तीकरण, जो हमें घसीटकर बाहर लाते, पूर्णता के निर्णीत लक्ष्य से भटकाते तथा संसार एवं स्वर्ग के सुखों से भी वंचित करके हमारी प्राण-शक्तियों को विनष्ट कर डालते हैं।

'योगसूत्र' में योग-मार्ग की अनेक बाधाओं की क्रमिक विवृति प्रस्तुत की गयी है : 'व्याधि, प्रमाद, संदेह, उत्साह-हीनता, जड़ता, विषयासक्ति, भ्रांति, विक्षेप और उपलब्ध-उच्चता से व्युत्थान',[20] ये हैं मार्ग को रोकनेवाली बाधाएँ। इस सूत्र का भाष्य करते हुए स्वामीजी ने इनमें से एक-एक करके—प्रत्येक बाधा को स्पष्ट किया है : 'व्याधि' :—जीवन सागर के दूसरे किनारे पर पहुँचाने के लिए यही शरीर नाव है, तरणी है। इसकी हिफाजत करना—इसे सुरक्षित रखना अनिवार्य है। अस्वस्थ लोग योगी नहीं हो सकते। 'प्रमाद या मानसिक आलस्य' के कारण ध्यान में सजीव रुचि नहीं रहती, जिससे अभ्यास के लिए न तो दृढ़ संकल्प होता है, न पर्याप्त ऊर्ज्जा ही मिलती है। 'संशय-संदेह' : योग-विज्ञान की सत्यता या प्रामाणिकता के सम्बन्ध में मन में संदेह उठ सकते हैं, प्रबल बौद्धिक धारणा या विश्वास के रहने पर भी,—तबतक संदेह बने रह सकते हैं जबतक दूरदर्शन या दूरश्रवण आदि के रूप में कुछ विचित्र चैत्य अनुभूतियाँ न हो जायँ। इन झाँकियों से मन में दृढ़ता आती है, और साधक उत्साहपूर्वक अभ्यास में लगा रहता है। 'उपलब्ध उच्चता से पतन या प्राप्त स्थिति से नीचे आ जाना': अभ्यास के क्रम में कुछ दिनों, हफ्तों तक मन शांत रहेगा—आसानी से एकाग्र होगा, और आपको लगेगा कि आप तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। अचानक एक दिन विकास रुक जायगा, और आपको लगेगा जैसे मार्ग में एकांत-असहाय छूट गए हों। दृढ़ता से अभ्यास करते जाएँ—प्रतिरोधों के बावजूद। सभी विकास इसी तरह के उतार-चढ़ाव के मार्ग से चलकर सम्पन्न होते हैं।".[21]

फलदायी ध्यान

मनुष्य के मन में एक अद्‌भुद् क्षमता है, जो दूसरे किसी जीव में नहीं है। मानवीय मन दो स्तरों या तलों पर कार्य करता है—उच्चतर एवं निम्नतर तल। उच्चतर तल ईश्वरत्व को अभिव्यक्त करता है तथा मनुष्य को उच्चशील एवं दिव्यता प्रदान करता है। मन के निम्नतल पर पाशविकता की अभिव्यक्ति होती है। मानवीय मन की दूसरी विशेषता—जिसका कोई सामानांतर नहीं—यह है कि यह स्वयं कर्त्ता और कर्म, द्रष्टा और दृश्य या ध्यान और ध्येय होने की स्वाभाविक क्षमता से सम्पन्न है। यह एक ही काल में दुहरी भूमिका निभा सकता है! मन अपने को दो भागों में, द्वैत में विभाजित कर सकता है—और करता ही है—स्वयं को वस्तुनिष्ठ करके उसी विषय-वस्तु का अध्ययन भी करता है। यह मन एक अद्‌भुद् सम्मिश्रण है।

---

२०. पातञ्जल योगसूत्र, १, ३०

"व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थित्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।"

"व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थित्व—ये चित्त के नौ विक्षेप (योग के) विघ्न हैं।"

२१. कम्प्लीट वर्क्स, १, पृ० २२१

मानव मात्र को वह सम्पदा मिली हुई है, जिसे विवेक या अन्तश्चेतना का आलोक कहते हैं। यही है मनुष्य की वह विशिष्ट निधि जो गाढ़े समय में उसे चेतावनी देती है। लेकिन मनुष्य इस तरह से गठित है कि भीतरी की चेतावनियों या अन्तश्चेतना की तीखी कचोटों पर थोड़ा भी, या बिल्कुल ही, ध्यान नहीं देता है। परिणाम यह है कि—चेतावनियों के बावजूद—वह बुरे कर्मों में लीन होकर उत्तरोतर अधिक दुष्ट, आचारभ्रष्ट और पतित हो जाता है। स्वयं मानवता से पतित होकर बंधु-बांधवों के लिए भी वह एक अभिशाप बन जाता है। इससे विपरीत, वह साधक जो मन की भीतरी हरकतों के प्रति जागरूक होकर अंतश्चेतना की आवाज सुनता है, यथा समय उसमें घोषित होनेवाली चेतावनी पर पूरा ध्यान देता है। प्रस्थापित सामाजिक-नैतिक शील-विधान के अनुसार आगे बढ़ते हुए वह स्वयं को पतन की सम्भव खाइयों से बचा लेता है। वह जिन लोगों के बीच रहता और कार्य करता है, उन्हीं की भलाई के लिए तत्परता पूर्वक सन्नद्ध हो जाता है। शुभ कर्मों से वह स्वयं उन्नत एवं प्रशांत होकर, दूसरों के लिए भी एक वरदान सिद्ध होता है। इस बिन्दु पर स्वामीजी की चेतावनी ध्यान देने लायक है : "असंयमित और अनिर्दिष्ट मन हमें नीचे—बहुत नीचे—सदैव नीचे घसीट देगा—विदीर्ण करेगा, मार डालेगा; संयमित और निर्दिष्ट मन हमारा त्राण करेगा, हमें मुक्त एवं स्वाधीन बना देगा"।"[२२]

स्वामीजी का सुझाव है कि हमें मौन होकर ध्यान करना चाहिए। मौन की शक्ति और उसकी महिमा के सम्बन्ध में वे कहते हैं: "सत्य किसी का पक्षधर नहीं हो सकता; वह सब के मंगल के लिए, सबके हित में होता है। अन्ततः, पूर्ण विश्राम तथा शांति में स्थित होकर इस सत्य पर ध्यान करें—इस पर मन को एकाग्र करें—इसी से स्वयं को अभिन्न बना लें। तब वाणी की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती; मौन ही सत्य का वाहक होगा। बातचीत में शक्ति का अपव्यय करने के बजाय मौन होकर ध्यान का अभ्यास करें; बहिर्जगत के तुमुल-प्रवाह से स्वयं को कंपित तथा व्यतिक्रमित न होने दें। जब आपका मन उच्चतम अवस्था को प्राप्त होगा तो आपको उसका कोई खयाल भी नहीं रहेगा। अन्तर्मौन में शक्ति संचय करें—और अध्यात्म-प्रवाह बहाने वाली महासत्ता यानी आध्यात्मिकता का डायनमो हो जाएँ।"[२३]

साक्षी हो जाएँ! नगाड़े की चोट से घोषित किया हुआ यही संदेश है स्वामीजी का : "जब क्रूर अत्याचारी का हाथ तुम्हारी गर्दन पर हो, धीरता से कहो, 'मैं साक्षी हूँ! मैं साक्षी हूँ!' और कहो, 'मैं आत्मा हूँ! कोई बाह्य वस्तु मुझे छू नहीं सकती! जब भी बुरे विचार उठें, इसे बार-बार दुहरायें, इस महासूत्र रूप हथौड़े की चोट से बुरे विचारों को विदीर्ण कर दें : 'मैं आत्मा हूँ! मैं साक्षी हूँ—चिर धन्य, सदा-सदा के लिए कृतकृत्य!' मुझे कुछ भी करना नहीं है, न तो कुछ भोगना है! मैंने सभी चीजों से छुट्टी पा ली है! मैं तो मात्र साक्षी हूँ।"[२४]

पुनश्च : "यह सब खेल है...... खेल! सर्वसमर्थ ईश्वर खेलते हैं। यही बात है, यही सार है कि... ओह, सर्वसमर्थ ईश्वर ही, खेल रहे हैं... यह सब क्रीड़ा ही तो है। इसे जानें और खेलें। यही सब कुछ है, समग्र जीवनसूत्र। इसी सूत्र को अपनाएँ—इसी का अभ्यास करें। सारा विश्व-ब्रह्मांड एक बृहत् खेल है—एक महाक्रीड़ा। सब कुछ अच्छा है, शुभ है, क्योंकि सब-कुछ क्रीड़ा है, खेल है। ..... दुख-दीनता से दयनीय मत हों। शोक-पश्चात्ताप न करें। जो हो गया, हो गया। अगर आप स्वयं को जलाते हैं तो परिणामों को स्वीकार करें।........होश में रहें, विचारवान होकर। हम गलतियाँ करते हैं : लेकिन उससे क्या? यह सब तो खेल में ही है। लोग अपने पूर्वकृत पापों को लेकर इतने परेशान और पागल होते हैं, विलाप करते, रोते-धोते और क्या सब करते हैं। पश्चात्ताप न करें। कार्य समाप्त करने के बाद, उसका कोई चिंतन न करें। आगे बढ़ते जाएँ। ठहरें नहीं, रुकें नहीं! पीछे मुड़कर मत देखें! पीछे देखने से क्या मिलेगा?"[25]

ध्यान के संबंध में स्वामीजी की उक्त विवृति को हम उन्हीं के अमर एवं प्रेरक उद्बोधन से समाप्त करें। 'उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य वरान्निबोधत!' अर्थात् "उठो, जाग जाओ और लक्ष्य प्राप्त होने के पूर्व लगातार बढ़ते रहो!"

अनुवादक : **शितिकंठ बोधिसत्त्व**

(लेखक एवं प्रकाशक की अनुमति से—'द वेदान्त केसरी' 'नवम्बर' ७९ विशेषांक से साभार)

---

२२. कम्प्लीट वर्क्स, ६, पृ० ३०। २३. कम्प्लीट वर्क्स, पृ० ६०-६१. २४. कम्प्लीट वर्क्स, ५, पृ० २५४. २५. कम्प्लीट वर्क्स, २ पृ० ४७०-७१.

तिलक और विवेकानन्द के सम्बन्ध

(मूल मराठी स्रोतों पर आधारित)

—डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा

आचार्य एवं अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना ।

लोकमान्य तिलक और स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तिगत सम्बन्ध पारस्परिक सम्मान और समादर के भाव से लक्षित किये गये थे । सन् १८९२ ई० में तिलक रेलगाड़ी की द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में अपना आसन ग्रहण कर बम्बई से पूना वापस लौट रहे थे । कुछ गुजराती भी जो स्वामी विवेकानन्द के साथ आये थे, उसी डब्बे में आसीन हुए । उन गुजरातियों ने तिलक को स्वामीजी का परिचय दिया और स्वामीजी से उनके साथ ही ठहरने का अनुरोध किया । पूना में अपने आवास गृह में पहुँचने के उपरान्त तिलक ने स्वामीजी को एक पृथक् कमरा प्रदान किया ।[1] वे आठ से दस दिनों तक पूना में ठहरे । उनकी निजी सामग्रियाँ गणना में बहुत कम थीं । वे अधिक काल चुप ही रहा करते थे किन्तु वे और तिलक कुछ समस्याओं पर विचार-विमर्श किया करते थे । एक बार तिलक स्वामीजी को हजारीबाग क्लब की सभा में अपने साथ ले गये । उस दिन स्वर्गीय काशीनाथ गोविन्द नाटु ने अध्यात्म सम्बन्धी एक विवादास्पद विषय का उपस्थापन किया । तिलक ने स्वामीजी से इस विषय में भाग लेने का अनुनय किया और स्वामीजी पूरे एक घन्टे तक बोले । उनका व्याख्यान स्मरणीय एवं विलक्षण था । इसके उपरान्त नगर के निवासी उनसे मिलने आने लगे और उन्होंने (स्वामीजी ने) गीता और उपनिषदों पर प्रवचन दिये । गीता तिलक की प्रिय-आदृत पुस्तक थी और दो या तीन बार दोनों महापुरुषों ने गीता पर विचार-विमर्श किये थे । तिलक यह जानकर परम प्रसन्न थे कि स्वामी विवेकानन्द भी स्वीकारते थे कि भगवद्गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग है ।[2] जब अधिक लोग स्वामीजी के दर्शनार्थ आने लगे तब उन्होंने विदा लेनी चाही और वहाँ से एक दिन चले गये । १८९३ ई० में स्वामी विवेकानन्द और तिलक, दोनों ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति पायी । शिकागो की धर्म-सभा में स्वामी विवेकानन्द द्वारा दिये गये व्याख्यानों ने उन्हें विख्यात कर दिया । और १८९३ में 'दि ऑरिऑन (मृगशिरा नक्षत्र) के प्रकाशन से तिलक ने सम्पूर्ण विश्व के प्राच्य भाषाविदों में एक सनसनी उत्पन्न कर दी ।

जब स्वामी विवेकानन्द सन् १८९६ ई० में पश्चिमी जगत् से लौटे तब तिलक ने उन्हें पत्र लिखा और पूना आने का आग्रह किया । उन दिनों विवेकानन्द अत्यन्त व्यस्त थे अतः उन्होंने कुछ दिनों के उपरान्त पूना आने का वचन दिया । किन्तु किसी कारण से यह योजना कार्यान्वित नहीं हो पायी । सन् १९०१ के कलकत्ता काँग्रेस के उपरान्त तिलक विवेकानन्दजी से मिलने बेलुड़ मठ गये और उस स्थल को देखकर आह्लादित हुए ।[3] यद्यपि विवेकानन्द वेदान्ती थे, तथापि सामाजिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक समस्याओं जैसी विभिन्न प्रकार की धाराओं में उनकी गहरी रुचि थी । विवेकानन्द ने तिलक को संसार का परित्याग करने और अपनी समस्त ऊर्जाओं को लोक-शिक्षा और धार्मिक पुनर्जागरण के कार्य में अर्पित

१. लोकमान्य तिलक के संस्मरण और उपाख्यान । (मराठी में, सम्पादक स० व० बापट, पूना १९२८) खंड : ३, पृ० १३४-३५

२. कहा गया है कि तिलक ने कहा :
"स्वामीशीं दोनतीन वेळां चर्चा केली आणि गीते चे सार व मर्म निष्काम कर्मयोग च आहे अशी मजप्रमाणें त्यांचीहि निष्ठा असल्यावद्दल माझी खात्री झाली ।" —वही, पृ० १३५

३. वही : खंड २ : पृ० ४२२-४२३

करने का अनुरोध किया। किन्तु तिलक ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया कि वे वैराग्य का पंथ कभी नहीं ग्रहण करेंगे। जो भी सामाजिक और मानवीय कार्य उन्हें करने हैं, उन्हें वे संसार में रहकर और गृहस्थ की तरह जीकर करेंगे।[4] तिलक और विवेकानन्द ने भारत की राजनीतिक समस्याओं पर भी विमर्श किया और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अनुभव किया कि राष्ट्र की राजनीति नीति, स्वसाहाय्य तथा सहिष्णु-प्रतिरोध के दर्शन पर आधारित होनी चाहिए। विवेकानन्दजी ने तिलक-दल को उपहार प्रदान किये और इस सम्मिलन ने दो महापुरुषों के पारस्परिक स्नेह और समादर का संवर्द्धन किया।

जुलाई १९०२ में स्वामी विवेकानन्द ने महासमाधि ली। ८ जुलाई को तिलक ने 'केसरी' में श्रद्धांजलि मूलक एक लेख लिखा।[5] उस लेख में उन्होंने स्वामीजी द्वारा की गयी उन महत्तम सेवाओं का स्मरण किया जिनके द्वारा उन्होंने (स्वामी जी ने) पश्चिमी जगत् के समक्ष हिन्दू अध्यात्मविद्या के कोषागार को उपस्थित किया था। अद्वैत दर्शन के ज्ञान का विश्वव्यापी प्रचार करने की विवेकानन्द की पहले से ही कल्पना थी। तिलक ने अपने लेख में रामकृष्ण मठ के संन्यासियों द्वारा १८९६-९७ के दुर्भिक्ष में राजपुताने में की गयी सेवाओं का उल्लेख किया। उन्होंने १९०० ई० में पेरिस में दिये गये स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यान का भी उल्लेख किया। उन्होंने धर्म और वेदान्त-दर्शन के प्रचार में स्वामीजी की प्रकाण्ड विद्वत्ता, वाग्मिता, उत्साह और अध्यवसाय का स्मरण किया। तिलक ने निश्छल भाव से स्पष्टतापूर्वक कहा कि सर्वप्रथम आचार्य शंकर ने हिन्दू धर्म के शुद्धीकरण एवं प्रचार का कार्य-भार अपने ऊपर लिया। विवेकानन्द दूसरे व्यक्ति थे जिनकी वैसी ही कल्पना[6] थी, किन्तु असामयिक शरीर-त्याग के कारण वे अपना कार्य नहीं कर सके। तिलक ने भारत के अपनी प्राचीन राजनीतिक शक्ति और गरिमा के खो देने पर खेद प्रकट किया। केवल प्राचीन धर्म ही एक पवित्र दाय की भांति बचा रह गया है। आधुनिक विश्व प्रतियोगिता का विश्व है और तिलक के अनुसार धर्म और दर्शन के हमलोगों के विशाल कोष को बुद्धिजीवियों के समक्ष उपस्थित करना आवश्यक है। तिलक ने विवेकानन्दजी के, जो निश्चय ही राष्ट्रीय आन्दोलन को गंभीर रूप से प्रभावित करते, असामयिक निधन पर दुःख प्रकट किया। उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि स्वामीजी के अधूरे कार्य को पूर्ण करने का दायित्व अन्य लोग ग्रहण करेंगे। उन्होंने 'केसरी' में अपने श्रद्धांजलिमूलक लेख का समापन इस बात का उल्लेख करने के उपरान्त किया कि उन्होंने दो बार स्वामी विवेकानन्द से पूना आने का निवेदन किया था, किन्तु एक बार रुग्णता के कारण और दूसरी बार किसी अन्य कारणवश, स्वामी विवेकानन्द व्याख्यान देने पूना नहीं आ सके। तिलक ने प्रभु से प्रार्थना की कि दयालु परमात्मा अद्वैत मत में सभी धर्मों के एकीकरण और एकातानता की उपलब्धि संभव करे।[7]

---

४. वही : खंड ३ : पृ० १३५-१३६

५. केसरी में प्रकाशित तिलक के लेख का शीर्षक था "श्री स्वामी विवेकानन्द हे समाधिस्थ झाले।"

६. तिलक के मूल मराठी के शब्द इस प्रकार है :

"हिंदुधर्माचें उज्ज्वल स्वरूप कोणतें, आशा प्रकारचा धर्म अमाच्या देशांत झाला हेंच आमचें अमूल्य धन व बल आणि त्याचा सर्व जगभर प्रसार करणें हेंच आमचें खरें कर्तव्य असें बोलणारे नव्हे तर जगास सिद्ध करून दाखविणारे सत्पुरुष हजार बाराशें वर्षांपूर्वी एक शंकराचार्य होउन गेले, व त्याशतकाच्या अखेरीस दुसरे स्वामी विवेकानन्द झाले।"

७. "सर्वधर्मांचें अद्वैतमतांत एकीकरण करण्याचे श्रेय।"

स्वामी विवेकानन्द

—आचार्य डा० उमेशचन्द्र मधुकर

वह देवपुरुष या राजपुरुष जो चमका देश-विदेशों में,
या पुरुष-सिंह जो वेदान्ती बन गरजा गैरिक वेशों में।

वाणी का वरदसुपुत्र ओज जिसके चरणों में लुंठित था,
जिसके समक्ष पाश्चात्य बुद्धि का वैभव मूर्च्छित कुंठित था।

वह कौन कि जिसने रामकृष्ण से परमहंस को गुरु माना,
उनके चरणों में नत होकर जिसने प्रभु-प्रभुता को जाना।

जिसने धर्मान्ध जगत को फिर से आँखों का वरदान दिया,
ऋषिमुनि प्रतिपादित दर्शन को जिसने फिर से सम्मान दिया।

जिसने वह क्रान्ति जगायी थी दुनिया के कोने-कोने में,
जिससे वे भी न बचे जिनका सबकुछ था चाँदी-सोने में।

जिसके उद्घोषों की प्रतिध्वनि होती थी बड़े पहाड़ों से,
सागर की उठी तरंगों से, वन के झाड़ों-झंखाड़ों से।

वह जगत्राता, तो तुम नरेन्द्र धनधाम छोड़ सानन्द चले,
परमार्थ, प्रेम, सेवा के स्वामी बने विवेकानन्द चले।

तुमसे जब पूछा जाता था—स्वामीजी कहो धर्म क्या है,
वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों का बतला दो ठीक मर्म क्या है।

तुम हँसते, कहते—तन से, मन से सभी लोग बलवान बनें,
श्रद्धा विश्वास प्रतीक बनें, सब उच्च गुणों की खान बनें।

प्राचीन धर्म कहते थे—ईश्वर को नकारना नास्तिकता,
लेकिन आत्मा है परमात्मा, मानना आज है आस्तिकता।

बाधा है एक कि निर्बल तनमन वाले मान नही सकते,
आत्मा है कहाँ और कैसी वे कुछ भी जान नहीं सकते।

सम्पूर्ण जगत के कण-कण में है एक ब्रह्म ही रमा हुआ,
उन सबके भीतर आत्माओं के रूपों में वह जमा हुआ।

इसलिए जगत के कण-कण से जब सच्चा प्रेम किया जाता,
तब आत्मा परमात्मा सब मिलते, धर्म यही है बतलाता।

जब लोग पूछते—अपने को बलवान बनावें कैसे हम,
हम तो दरिद्र हैं, बल के उतने साज सजावें कैसे हम।

तब तुम हँसते—बल को पाने को साज सजाना क्या होता,
सात्विक भोजन में, कसरत में यह माल जुटाना क्या होता।
भोजन हो शुद्ध, भले कम ही हो, उसे बाँट कर ही खाओ,
तन मन दोनों से काम करो, सबको सुख देकर सुख पाओ।

इसके ऊपर भी एक बात—निर्बल मन को बलवान करो,
सत्पथ पर हो निर्भीक चलो उसपर ही चाहे जियो मरो।
बाहरी प्रकृति पर विजय जगत में अंतिम उच्च प्रयास नहीं,
भीतरी प्रकृति मन बुद्धि आदि जल्दी हारें—विश्वास नहीं।

ये चाँद सितारे मनुजों दनुजों से भी हारा करते हैं,
भीतरी प्रकृति पर विजयी को भगवान दुलारा करते हैं।
तुम कहते थे—अवतारों, संतों को आदर्श समझना है,
उनके बतलाए पथ पर चलने को उत्कर्ष समझना है।

आदर्श लक्ष्य का पथिक चलेगा सीधा, कभी न अटकेगा,
आदर्श लक्ष्य से हीन पथिक तो भटकेगा, सर पटकेगा।
तुम कहते जो अपढ़ों, भूखों, नंगों को लख चुप रहता है,
वह एक देशद्रोही है, नरकों के नालों में बहता है।

द्रवता न हृदय उनपर जिसका वह तो प्रत्यक्ष दुरात्मा है,
जो दीन दुःखी की सेवा करता सच्चा वही महात्मा है।
जग में जीवन विस्तारमात्र, संकोच मृत्यु से कम क्या है,
है स्वार्थ परम संकोच, प्रेम जैसा विस्तृत अनुपम क्या है।

अतएव जगत के जीवन में कानून प्रेम है, अन्य नहीं,
जो जन-जन का प्रेमी न हुआ तो उसका जीवन धन्य नहीं।
तुम छुआ-छूत का भूत भगाने को कहते ही रहते थे,
इसके कारण स्वार्थान्ध दलों से निन्दा भी तुम सहते थे।

तुम सदा मानते-चर्मकार यदि जूते ठीक बनाता हो,
वह उस ब्राह्मण से अच्छा है यदि वह भ्रम ही फैलाता हो।
रख हृदय स्वच्छ सब की सेवा में लगे रहो बस यही धर्म,
वेदों शास्त्रों से विहित सभी उपदेशों का है यही मर्म।

मस्तिष्क विजेता नहीं जगत में, परमविजेता हृदय यहाँ,
मस्तिष्क सृष्टि भी करता लेकिन बहुधा करता प्रलय यहाँ।
लेकिन यदि हृदय प्रेमपरिपूरित हो तो भाग्योदय होता,
तब भेदभाव अज्ञान तिमिर का नाशक सूर्योदय होता।

तुम कहते—त्यागी दानी नरपुंगव होता,
उच्चातिउच्च भी प्रेम उसे संभव होता।
तुम त्यागी बन सर्वस्वदान भी करो सही,
गड़बड़ होगा यदि प्रतिदानों की बात कही।

धनधान्य पूर्ण सम्पत्ति, प्रेम भी दे डालो,
बदले में कुछ पाने की आशा मत पालो।
यदि जग पर तुम यों कृपा करो प्रतिदान रहित,
तब प्रभु तुमको अपनाएंगे सम्मान सहित।

तुमने भारत की परम्पराएँ जानीं,
उत्थान-पतन की सभी कथाएं जानीं।
तुमने पूरब-पच्छिम देखे जा-जाकर,
देखा वे क्या हैं क्या खोकर, क्या पाकर।

देखा भारत में वन प्रान्तर सुन्दर हैं,
सुन्दर पहाड़ नद-नदी और निर्झर हैं।
सुन्दर महलों की भी तो कमी नहीं है,
मीनार गगन को छूती कहीं-कहीं है।

लेकिन उनके ही निकट खड़ी झोपड़ियाँ,
आरामबाग के पास पड़ीं खोपड़ियाँ।
हीरे मोती से लदी नारियाँ भी हैं,
रोती विधवाएँ, पड़ी क्वारियाँ भी हैं।

घोड़े कुत्ते महँगे खाने खाते हैं,
लेकिन भूखे भी बहुत जिये जाते हैं।
इन भूखों में ही धर्म यहाँ जीवित है,
मानवता का गुण आज यहीं संचित है।

लक्ष्मी के भी लाड़ले यहाँ कुछ हैं ही,
सोने हीरे पर पले यहाँ कुछ हैं ही।
उनका कोई होता ईमान नहीं है,
होता न धर्म, होता भगवान नहीं है।

तुम कहते पूरब के अमीर घातक हैं,
लेकिन पच्छिम के घोर महापातक हैं।
ऐसे पूरबवाले हैं निजकुल घालक
पच्छिमवाले तो सकल सृष्टि संहारक।

जब प्रश्न उठा क्या भक्ति, बता दो स्वामी,
तुम योग ज्ञान सबके व्याख्याता नामी।
तुम कहते—भक्ति महान् प्रेम है भाई,
यह योग ज्ञान से बड़ा नेम है भाई।

जो प्रभु को अपना हृदय दान देता है,
बदले में प्रभु से कभी न कुछ लेता है।
जिसका है प्रेम अनन्य जगत में ऐसा,
स्वाती जल से चातक का होता जैसा।

ऐसे प्रेमी को भक्ति प्राप्त होती है,
उससे ही जग को शक्ति प्राप्त होती है।
यह प्रेमशक्ति ही भक्ति कही जाती है,
जो निर्गुण को भी सगुण बना पाती है।

तब निराकार साकार बना फिरता है,
वह निर्विकार भी प्यार बना फिरता है।
हम भक्त तुम्हारे पीड़ित हैं।
सारी जनता चीत्कार रही।
श्री रामकृष्ण को और तुम्हें,
यह धरती पुनः पुकार रही।

स्वामी विवेकानन्द के प्रथम संन्यासी शिष्य

स्वामी सदानंद

—डा० विमलेश्वर डे

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुदेव के नाम से जिस संघ का निर्माण किया, उस संघ का लक्ष्य था—'आत्मनः मोक्षार्थम् जगत् हिताय च'। उन्होंने इसे अपने गुरुदेव से ही प्राप्त किया था। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही सर्वव्यापी है। प्रत्येक जीव के अन्दर नारायण बसे हुए हैं, इसलिए, नर की पूजा ही नारायण की पूजा है। श्रीरामकृष्णदेव ने इसी को अपनी ग्रामीण भाषा में कहा था—"शिव ज्ञाने जीव पूजा"।

स्वामी विवेकानन्द भारत की दरिद्रता देखकर बहुत पीड़ित थे। उन्होंने ठीक ही समझा था कि जब तक भारतीय जनता की भूखमरी, आवासहीनता, भवन-हीनता अस्वस्थता और अशिक्षा को दूर नहीं किया जाता, तब तक उन्हें धर्म की बात सुनाना व्यर्थ होगा। उनके गुरुदेव ने भी एक बार कहा था—'भूखे पेट रहने से धर्म नहीं होता है।' इसलिए श्रीरामकृष्ण संघ के सदस्यों की आध्यात्मिक साधना में नारायण सेवा को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया जो आज भी रामकृष्ण संघ के कार्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

स्वामी विवेकानन्द अपने संन्यासी शिष्यों को 'आत्मनः मोक्षार्थम् जगत् हिताय च' के मंत्र से उद्बुद्ध करते रहे। उनके लिए पूजा-अर्चना उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी कि नररूपी नारायण की सेवा। स्वामी विवेकानन्द जी के एक ऐसे शिष्य थे जिनका नाम था स्वामी सदानन्द, जिन्होंने अपने जीवन भर अपनी आध्यात्मिक साधना इसी मंत्र के द्वारा की।

बहुत वर्ष पहले की बात है कि एक बार भागलपुर में प्लेग की संक्रामक व्याधि फैल गयी थी। उन्होंने रामकृष्ण संघ की ओर से जिस सेवा कार्य का संचालन किया था, उसके विषय में उस समय के लोग खुले दिल से उनकी निःस्वार्थ सेवा की प्रशंसा किया करते थे। इसके अतिरिक्त स्वामी सदानन्द कलकत्ते के ग्रामीण मुहल्ले के युवकों को असहाय और पीड़ित व्यक्तियों के सेवा कार्य के लिए प्रेरित करते रहते थे। एक बार एक लड़का चेचक की बीमारी से पीड़ित था। स्वामी सदानन्द जी ने उस बालक को रात भर अपनी बाँहों में भर कर रखा और वह बालक भी उनका मंगलस्पर्श पाकर सो गया। यह सुनकर किसी ने उनसे कहा था कि ऐसी संक्रामक व्याधि से ग्रस्त रोगी के साथ शारीरिक स्पर्श रखना खतरनाक है। उस व्यक्ति की ओर दृष्टिपात कर उन्होंने उत्तर दिया—'तुमने क्या कहा ? ऐसा करना खतरनाक है ? ऐसे रोगी की सेवा इस तरह से नहीं करनी चाहिए ताकि मैं भी इस रोग से पीड़ित न हो जाऊँ ? किन्तु ऐसे रोगी को उसी हालत में छोड़ दिया जाय तो क्या उससे यह रोग फैल नहीं जायेगा ? अगर ऐसा हो तो क्या तुम भी इस रोग से बच पाओगे ? हम सब संन्यासी फकीर हैं। अपने जीवन के लिए हम परवाह नहीं करते हैं। स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है कि इस युग के लिए सेवा-धर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, यह शरीर एक न एक दिन जायेगा ही, आज नहीं तो कल; किन्तु आत्मा अविनाशी है। तब किस बात का डर ? जो डरपोक और कापुरुष (Coward) होते हैं वे कभी भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते। स्वामी विवेकानन्द प्रायः 'अभीः', 'अभीः'—शब्द का उच्चारण करते थे। इसलिए एक बार मैंने अपने हृदय की दुर्बलता के कारण इस प्रकार की सेवा करने में हिचकिचाहट प्रकट की थी।

उत्तर भारत में एक जगह मैं अपने गुरु भाई से मिलने गया था। ट्रेन के पहुँचने में विलम्ब हुआ। स्टेशन पर जब मैं उतरा तो आधी रात बीत चुकी थी। उस समय मैं उनके पास जाकर उनको परेशान (Disturb) करना नहीं चाहता था। इसलिए मैंने एक धर्मशाला के बारामदे पर आश्रय लिया, और लेट गया। प्रातः काल जागने पर मैंने देखा कि मेरी बगल में ही एक कुष्ठ रोगी सोया हुआ था। मन की दुर्बलता के कारण मैं थोड़ा घबड़ा गया। लेकिन शीघ्र मैंने गुरु मंत्र का स्मरण किया और मुझे ऐसा बोध हुआ कि भगवान् शिव ही इस कुष्ठ रोगी के रूप में मेरे पास पड़े हुए हैं, ताकि मैं उनकी सेवा कर सकूँ। यह बात दिमाग में आने के साथ ही मैंने उनके घावों को कपड़े से साफ किया। तत् पश्चात् जब मैं अपने गुरुभाई से मिला तो इस रोगी के उपचार तथा भोजन के लिए व्यवस्था की। कुछ दिनों के बाद मैं वहाँ से लौट आया।' स्वामी सदानन्द कहा करते थे कि 'जब कोई व्यक्ति इस प्रकार के सेवा-कार्य में अपने को लगाता है, उसका मन ऊपर उठता है, हृदय में व्यापकता आती है और इस प्रकार का अनुभव उस व्यक्ति का कभी त्याग नहीं करता है। इस प्रकार का कार्य कोई दैनिक रूटीन कार्य के तुल्य नहीं है। इस कार्य से व्यक्ति को अनुभव होता है कि मैं साक्षात् शिव की पूजा कर रहा हूँ। ऐसी भावना नहीं रहने से सेवा-कार्य की प्रेरणा का स्रोत सूख जाता है और यह कार्य एक बोझ जैसा लगने लगता है। इस भाव के अभाव में व्यक्ति में अहंबोध बन जाता है जिसके कारण लोगों में आपसी मनोमालिन्य पैदा हो जाता है। स्वामी जी ऐसी शिक्षा हमेशा मुझे दिया करते थे।'

जब उनसे पूछा गया था कि किन परिस्थितियों में वे सर्वप्रथम स्वामी जी से मिले, तब उन्होंने कहा था—"बहुत दिनों तक मैं भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में रहता था। साधुओं के प्रति मैं श्रद्धा-भाव रखता था और उन्हें मैं भिक्षा भी दिया करता था। उस समय उत्तर-प्रदेश के हाथरस रेलवे स्टेशन का मैं स्टेशन मास्टर था। स्वामी विवेकानन्द वृन्दावन से ऋषिकेश अपने परिव्राजक साधु के रूप में रेलगाड़ी से सफर कर रहे थे। यह समय था १८८२ ई० के द्वितीयार्द्ध के किसी समय का। संभवतः उनके पास हाथरस तक का ही टिकट था, इसलिए वे स्टेशन पर उतर गये। वे कहाँ जायँ? किनसे मदद मिले? सभी अनिश्चित था। लेकिन उनके चेहरे पर किसी प्रकार की दुश्चिन्ता के लक्षण नहीं थे। बल्कि उनके चेहरे पर वैराग्य की उज्ज्वल आभा थी। आँखों में विश्वास की झलक थी। वे बहुत थके हुए थे, इसलिए प्लेटफार्म के बेंच पर बैठ गये। मैं उस समय अपनी ड्युटी पर था। मैं इस संन्यासी से आकर्षित होकर उनके पास गया और पूछा—"महाराज! आप यहाँ पर क्यों बैठे हैं?" मैंने उनसे अनुरोध किया कि कृपाकर आप मेरे घर चलिए और मुझसे भिक्षा ग्रहण करें। स्वामी जी ने मुझसे पूछा—"आपके घर पर और कौन-कौन रहते हैं?" मैंने उत्तर दिया था कि मेरे सिवा और कोई नहीं है, और मैं अविवाहित हूँ। जब तक आपका जी चाहे आप स्वेच्छापूर्वक ठहर सकते हैं। यह सुनकर उन्होंने मेरी तरफ ताक कर कहा—'अचानक क्यों तुम्हारे मन में साधु-सेवा की इच्छा जाग्रत हुई है?" मैंने जबाव दिया कि मैं इस प्रान्त में अकेला रहता हूँ और साधु-संन्यासी को घर पर सेवा करने का सौभाग्य मुझे मिल जाता है।" स्वामी जी ने मेरा निमंत्रण स्वीकार किया और मेरे निवास पर आ गये। मुझे लगा कि इससे वे प्रसन्न हुए। जब मैंने उनसे पूछा कि "किस प्रकार का भोजन आप पसन्द करेंगे।" तो उन्होंने जबाब दिया—"जो तुम्हारा भोजन होगा वही मैं भी भोजन करूँगा। मैं एक साधु फकीर हूँ, मैं भिक्षा मांगता हूँ। यदि मैं अपना खाना अपनी पसन्द के अनुसार दूसरों से बनवाकर करूँ तो यह भिक्षा नहीं होगी।"

दो-तीन दिन ठहरने के बाद एक दिन मैं अपने दफ्तर से कुछ पहले लौट आया ताकि स्वामी जी के साथ कुछ अधिक समय तक रह सकूँ। घर में कहीं भी वे मुझे देखने को नहीं मिले, किन्तु कहीं से मुझे किसी की मधुर आवाज में संगीत सुनाई पड़ा। ऐसा मुझे लगा कि यह स्वामी जी का ही कण्ठ स्वर है। मैं उन्हें ढूंढ़ने लगा। मकान के संलग्न बगीचे में एक वृक्ष के नीचे उन्हें बैठकर

गाते हुए देखा। उनकी आँखें भीगी हुई थीं और उनके गालों पर आँसुओं की बूँदें टपक रही थीं। स्वामी जी जो गीत गा रहे थे, उसका आशय था—'तुमने मुझ पर एक दायित्व सौंपा है किन्तु, मैं अकेला हूँ। कृपा कर तुम आओ और मुझे शक्ति दो ताकि मैं उस दायित्व को निभा सकूँ।''

उस एकान्त परिवेश में स्वामी जी को भावावेश में देखकर मेरा हृदय पिघल गया। मुझे ऐसा गहरा अनुभव हुआ कि ये साधु करुणा और प्रेम से भरे हुए हैं और उसी दिन मैं उनके शरणागत हुआ और अपनी नौकरी से त्याग-पत्र देकर मैंने उनके संग रहने का निर्णय लिया। स्वामी जी ने यह सुनकर पहले कठिन आपत्ति प्रकट की और मेरे निर्णय का उन्होंने विरोध किया। उन्होंने कहा—''तुम सुखी जीवन बिता रहे हो और साधु का जीवन कष्टमय है—आज वह वृक्ष के नीचे है कल वह किसी औरों की कुटी में रहेगा। क्या तुम इन कठिनाइयों को झेल सकोगे?'' मैंने जबाब दिया—''महाराज, बिना किसी कष्ट के ही इन कठिनाइयों को सह लूँगा, यदि मैं आप के संग में रहूँ। मैं आपकी सेवा भिक्षा मांग कर करूँगा।'' उसी समय से मैंने उनके अनुयायी के रूप में रहना शुरू किया।

स्वामी सदानन्द ने अपने परिव्राजक जीवन की एक घटना बतायी थी। उन्होंने कहा था कि—'तुमने सुना होगा महान् आत्मा का हृदय वज्र जैसा कठोर होता है और फूलों के जैसा कोमल भी होता है। यह मैंने तब जाना जब मैं स्वामी जी के साथ घूम रहा था। एक बार हमलोगों को एक रेगिस्तान से गुजरना पड़ा था, मेरे लिए इस प्रकार के जीवन का यह नया अनुभव था। मैं पहले कभी भी रेगिस्तान की बालू के ऊपर चला नहीं था। उस समय बालू सूर्य की किरणों से तप्त हो गयी थी। मैं जूता पहनकर चल रहा था। मेरा जूता भी गरम हो गया था, इससे मुझे चलने में तकलीफ हो रही थी। गरम हवा आग की तरह बह रही थी। मैं कष्ट से लड़खड़ा रहा था। स्वामी जी ने पीछे मुड़कर मेरी दशा को देखा और मुझसे बोले—''इस झोले में तुम अपने जूते को रख दो और तुम मेरे कन्धे पर चढ़ जाओ।'' यह सुनकर मैं घबड़ाया और उनकी तरफ शून्य दृष्टि से ताकने लगा। स्वामी जी ने मुझे डाँटकर कहा—''वैसा ही करो जैसा मैं कह रहा हूँ। मेरा शरीर एक पहलवान के शरीर जैसा है।'' ऐसा कहकर उन्होंने मुझे अपने कंधे पर बिठा लिया और कुछ दूरी पार करने पर जब हम लोग एक छायादार स्थल पर पहुँच तो उन्होंने मुझे कंधे से उतारा। तब तक हमलोग रेगिस्तान की सड़क से पार हो गये थे।' इस घटना को कहते हुए स्वामी सदानन्द महाराज की आँखों से आँसू टपकने लगे और उन्होंने पूछा—'बताओ कौन-सा गुरु ऐसा करेगा? मैं शब्दों से बता नहीं सकता कि वे मेरे लिए क्या थे।'

स्वामी जी के आदेश पर सदानन्द महाराज ने युवकों की एक टोली लेकर बद्रीनारायण की यात्रा की। वस्तुतः उनका जीवन असाधारण, आत्मत्याग और सरलता से पूर्ण एक योगी का जीवन था। उनका हृदय करुणा से परिपूर्ण था।

श्रीरामकृष्ण देव और श्री सारदा माँ के लिए उनमें प्रेम और भक्ति इतनी गहरी थी कि वे बातों से प्रकट नहीं करते थे। जब वे बहुत भयंकर बीमारी की स्थिति में मौत की गोद में जा रहे थे उस समय श्री माँ उनको देखने के लिए आयी थीं। जिन लोगों ने उस दृश्य को देखा था उन्होंने अनुभव किया था कि श्री श्री माँ के प्रति उनकी श्रद्धा कितनी गहरी थी और श्री श्री माँ भी उन्हें कितना प्यार करती थीं।

महाप्राण महापुरुष दूसरों के कल्याण के लिए—'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय'--अपना जीवन न्योछावर करके दुनिया छोड़कर चल बसते हैं। ऐसे महात्माओं के दर्शन से हम लोगों का जीवन भी उद्बोधित होता है और उनके घटना पूर्ण (Eventful) जीवन की स्मृतियों को याद करने से मन पवित्र हो जाता है।

इस निबन्ध के प्रणयन में श्री कुमुद बन्धु सेन लिखित और उद्बोधन में प्रकाशित निबन्ध 'स्वामी सदानन्द' तथा स्वामी अज्वजानन्द प्रणीत पुस्तक 'स्वामी जी के पद-प्रांत में' से तथ्य लिये गये हैं—लेखक।

श्री सारदा देवी

त्रयोदश अध्याय
(कामारपुकुर में)

—श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना।

दुःख-विपत्ति सब मनुष्य के जीवन में ही आते हैं। साधारण मनुष्य, जिनमें बुद्धि और विवेचन की कमी होती है, वे दैनिक जीवन के सामान्य दुःख से म्लान हो जाते हैं। किन्तु, खाँटी सोना जलाने से जिस प्रकार मलीन नहीं होता बल्कि और अधिक दीप्तिमय हो जाता है, उसी प्रकार दुःख-विपत्ति के आने पर जो सही अर्थ में मनुष्य होते हैं, उनका मनोबल जो स्वयं काफी अधिक होता है तथा उनका चरित्र जो स्वयं काफी महत् होता है, इससे और भी अधिक प्रकाशित हो उठते हैं। लगता है, ऐसे मनुष्यों के जीवन में बाधाएँ आती हैं, अभाव आते हैं, केवल साधारण मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए। विपत्ति में किस प्रकार धीरज धारण कर रहना है—यह सिखाने के लिए। बाधा-विपत्ति में वे हार नहीं मानते हैं,—और अक्षम कापुरुष जिस प्रकार अपनी सामर्थ्य के अभाव में बहुत कुछ मान लेते हैं, उन महापुरुषों की सहिष्णुता भी उस प्रकार की नहीं होती।

श्रीरामकृष्ण के देह-त्याग के उपरान्त सारदा देवी के जीवन में एक नया अध्याय आरंभ होता है। हमलोगों ने देखा है कि श्रीरामकृष्ण जब दक्षिणेश्वर में गंभीर साधना में रत थे, तब सारदादेवी ने कैसी दुश्चिन्ताओं और कितनी उत्कंठाओं के बीच काल-यापन किया था। दुःख से शिक्षा मिलती है। किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि इतने दुःखों से भी उनकी शिक्षा पूरी नहीं हुई थी। इसीसे हम देखते हैं कि दक्षिणेश्वर में कई वर्ष परिपूर्ण आनन्द के साथ व्यतीत करने के बाद, विशेषकर वृन्दावन से लौटने के बाद, वे भयंकर दुःख और अभाव में पड़ गयीं।

श्रीरामकृष्ण के शरीर-त्याग के उपरान्त दक्षिणेश्वर के मन्दिर के व्यवस्थापकों ने तय किया था कि श्रीरामकृष्ण को जो सात रुपये प्रतिमाह वेतन के रूप में मिलते थे, उतने ही रुपये सारदादेवी को प्रतिमाह दिये जायेंगे। किन्तु कुछ ही महीनों में, उनके वृन्दावन में रहते-रहते, ही दुष्ट लोगों के कुचक्रों के कारण वह वेतन देना बन्द हो जाता है। यह समाचार पाकर उन्होंने कहा था,—'इस तरह के सोने के समान मनुष्य ही चले गये, तब रुपयों से मेरा क्या होगा ?' वे जितने दिन वृन्दावन में रहीं उतने दिन उनके भोजन और दवा का खर्च बलराम बाबू आदि चलाते थे और अन्यान्य खर्च देते थे रामकृष्ण के दो शिष्य। जो सब गृहस्थ-भक्त काशीपुर उद्यान में श्रीरामकृष्ण का खर्च चलाते थे, उनलोगों ने तय किया था कि वे लोग सारदादेवी के लिए चन्दा करके उन्हें प्रतिमाह दस रुपये देंगे। किन्तु तब भी उनलोगों में से अनेक को सारदादेवी के प्रति विशेष श्रद्धा-भक्ति नहीं थी। उनलोगों की धारणा थी कि काम-कांचन-त्यागी श्री रामकृष्णदेव के जीवन में विवाह एक अनावश्यक कृत्य था। उनके जीवन में सारदादेवी का कोई प्रयोजन या स्थान नहीं था। उनलोगों ने रुपये देने का जो संकल्प किया था वह मात्र गुरु-पत्नी का सम्मान करने की दृष्टि से। उनके वृन्दावन-वास के समय में उनकी सहायता करने की आवश्यकता नहीं थी। फिर वे जब कामारपुकुर लौटीं तब से गृहस्थ भक्तों ने उनकी बात को लेकर अधिक माथापच्ची नहीं की, अथवा उनलोगों ने सोचा था कि श्रीरामकृष्ण के भतीजे श्रीयुत रामलाल तो श्री श्रीभवतारिणी के पुजारी का कार्य कर कुछ रोजगार करते ही हैं, अतः वे निश्चय ही अपनी चाची का खर्च चला सकेंगे। और जिन बालक-भक्तों को श्रीरामकृष्ण अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे, जिनके आगमन की राह देखते हुए वे कितने ही काल व्यतीत कर दिय

करते थे, वे सब तो उन दिनों सब कुछ छोड़कर, सब-कुछ भूलकर एकबारगी ही साधन-भजन में डूबे हुए थे। उन लोगों को अपना ही सिर छिपाने की जगह नहीं थी, एक मुट्ठी नमक-भात भी सब दिन उन लोगों को नहीं जुट पाता था। सारदादेवी के अभाव की बात जानने पर निश्चय ही वे सब भिक्षा माँगकर उन्हें खिलाते, किन्तु संसार की कोई खबर तो उन दिनों उनके कानों में पहुँचती नहीं थी !

वृन्दावन से कलकत्ता लौटने के दो दिनों के बाद वर्दमान के रास्ते से उन्होंने कामारपुकुर के लिए यात्रा की। रुपये-पैसों के अभाव के कारण उन्हें वर्दमान से ऊचालन तक आठ कोस का रास्ता पाँव-पैदल जाना पड़ा। स्वामी योगानन्द और गोलाप-माँ उन्हें पहुँचा देने गयीं। स्वामी योगानन्द तीन दिनों के बाद कलकत्ता वापस आये, गोलाप-माँ कामारपुकुर में एक महीने तक रहीं। उनके कामारपुकुर पहुँचते ही सारदादेवी की वेशभूषा देखकर वहाँ की महिला-मंडली में अनेक प्रकार की आलोचनाएँ शुरू हुईं। 'ओ माँ, यह जो घोर कलिकाल है, नहीं तो चौंतीस-पैंतीस वर्ष की ब्राह्मण-परिवार की विधवा सोने का बाला और लाल किनारी की साड़ी पहनती है किस अक्ल से !' इस तरह की आलोचना ने सारदादेवी के मन को चंचल कर दिया। गोलाप-माँ जब तक थीं तब तक उनके मुख के भय से कोई बड़े मुख से कुछ बोलने का साहस नहीं कर पाती थी। किन्तु उनके चले जाने के साथ ही साथ उन्हें (श्रीसारदादेवी को) सुना-सुना कर अनेक प्रकार की आलोचनाएँ करनी आरम्भ कर दीं। उस गाँव की अशिक्षित महिलाओं की आलोचनाएँ ऐसी तीखी होतीं कि एक से ही मन विषाक्त हो उठता। गोलाप-माँ जिस दिन चली गयीं, उसी दिन उन्होंने हाथ का बाला खोलकर रख दिया। कामारपुकुर पहुँचने के बाद की अपने मन की अवस्था का वर्णन उन्होंने अपने मुख से किया है,—"वे (श्रीरामकृष्ण) चले गये हैं, अतः कामारपुकुर आकर समझ पायी कि संसार की क्या हालत है ! मन में होने लगा, और क्यों ? वे ही जब चले गये तब और रहकर क्या होगा ? इस बात के कई दिनों तक मन में होते ही एक दिन उन्होंने सामने खड़े होकर कहा, 'अरी, अभी तुम्हारा जाना नहीं होगा। कलकत्ते के लोग अन्धकार में कीड़े की तरह बिलबिल कर रहे हैं। उन्हें देखना होगा।" इस प्रकार का आदेश उन्होंने काशीपुर में भी एकबार पाया था। फिर वही आदेश पाकर उन्होने समझा कि कलकत्ते के लोगों में धर्मभाव प्रदान करने के लिए उन्हें और भी अनेक दिनों तक जीवित रहना होगा।

कामारपुकुर में महिलाओं द्वारा की जाने वाली निन्दाओं को सुनकर उन्होंने क्या अनुभव किया था और क्या किया था, यह बात स्वयं उनके मुख से ही सुनें। —"वृन्दावन से कामारपुकुर आयी। यह ऐसा बोलती है, वह वैसा बोलती है। लोगों की बातों के डर से हाथ का बाला खोलकर फेंक दिया। गोलाप के चले जाने पर सोचा, गंगा-विहीन स्थान में क्यों कर रहूँ ? निरन्तर ही मेरे मन में गंगा के लिए एक विशेष भाव रहता था। मन में हुआ, गंगा-स्नान करने जाऊँगी। कुछ ही दिनों के बाद देखती हूँ कि सामने के बड़े रास्ते से वे (श्रीरामकृष्ण) भूतिर खाल (एक नाले का नाम) की ओर से आ रहे हैं। पीछे-पीछे हैं, नरेन (स्वामी विवेकानन्द), राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द), बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द); और भी कितने भक्त—कितने लोग ! देखती हूँ कि उनके पाँव से जल का फव्वारा लहर पर लहर उठाता हुआ आगे-आगे आ रहा है। कैसा जल का स्रोत है ! यह देखकर मन में हुआ–ये ही तो सब हैं ! इनके पादपद्म में ही तो गंगा हैं ! मैं धराधर रघुवीर (श्रीरामकृष्ण के गृहदेवता) के घर के समीप के जवा के पेड़ से तोड़ कर मुट्ठी-मुट्ठी फूल गंगा में देने लगी। इसके बाद उन्होंने मुझसे कहा, 'हाथ का बाला मत खोलो। वैष्णवतंत्र जानती हो तो ?' मैंने कहा, 'वैष्णवतंत्र क्या है ? मैं तो कुछ जानती नहीं हूँ।' उन्होंने कहा, 'शाम को गौरदासी आयगी, उससे सुन लेना।' उसी दिन शाम को गौरदासी आयी। उससे सब कहा। वह अनेक-सारे श्लोक बोलने लग गयी। अन्त में समझ-बूझकर बोली, 'माँ, तुम्हारे तो चिन्मय पति हैं।' फिर मैं बाला पहनने लगी।' श्रीरामकृष्ण की विदुषी संन्यासिनी शिष्या यह गौरदासी गौरीपुरी देवी या गौरी-माँ के नाम से विशेष परिचिता थी।

औरतें सहज शान्त होने वाली नहीं थीं। उन सब ने गाँव के जमींदार धर्मदास लाहा की विधवा बहन प्रसन्नमयी के यहाँ जाकर सारदादेवी के नाम पर नालिश की। श्रीरामकृष्ण के बाल्यकाल से ही उनके ऊपर प्रसन्नमयी की प्रचुर भक्ति थी। संन्यास लेने के पूर्व श्रीरामकृष्ण का नाम गदाधर था, अतः प्रसन्नमयी तथा ग्राम के अनेक लोग उन्हें आदर से गदाई कहकर पुकारते थे। औरतों की नालिश सुनकर उन्होंने दोनों हाथों से जोरों से अपना माथा ठोक कर कहा, 'गदाई की पत्नी, वह देवांशी है—साधारण नारी नहीं है।'' जमींदार की बड़ी बहन की भक्ति देखकर औरतों की कानाफुसी बहुत कुछ कम हो गयी।

दुर्वचन सुनने से मुक्ति पाकर एक कष्ट तो कम से कम समाप्त हुआ; किन्तु रुपये-पैसों का अभाव बड़े भीषण रूप में उपस्थित हुआ। उन्होंने रघुवीर के खेत में मौजूद धान से चावल तैयार करवाया, किन्तु सेंधा नमक खरीदने के लिए पैसे भी तो उन्हें जुट नहीं पाते थे। काशीपुर-उद्यान में श्रीरामकृष्ण ने एक दिन उनसे कहा था, ''इसके बाद (अर्थात् श्रीरामकृष्ण के शरीर-त्याग के बाद) तुम कामारपुकुर में रहोगी, साग बोओगी। साग भात खाओगी और हरिनाम का भजन करोगी।'' लगता है लोकशिक्षा के लिए इस बात के एक-एक अक्षर को फलीभूत होने की आवश्यकता थी। कामारपुकुर आते ही उन्होंने समझ लिया कि उन्हें क्या करना होगा। अपने हाथों में कुदाल ले, मिट्टी कोड़ कर उन्होंने साग की खेती की। जितने दिनों तक साग खाने के योग्य नहीं हुआ उतने दिनों तक उन्होंने रघुवीर को केवल भात का ही भोग लगाया। साग के बड़े होने पर सिद्ध साग और भात ठाकुर को निवेदन कर प्रसाद पाने लगीं। किन्तु अपने इस दैन्य की बात उन्होंने किसी से नहीं कही अथवा किसी को जानने नहीं दी। यदि संकेत से भी वे अपने अभाव की बात श्रीरामकृष्ण की महिला भक्तों को—बलराम बाबू की पत्नी, गोलाप-माँ या योगेन-माँ—इनमें से किसी को बतातीं तो उनका अभाव तत्क्षण मिट जाता। किन्तु त्यागियों के शिरोमणि श्रीरामकृष्ण जिनके जीवन के आदर्श थे, वे अपने सुख-स्वाच्छन्द्य के लिए दूसरों के सामने हाथ नहीं पसार सकीं। श्रीरामकृष्ण ने जो उन्हें सिखाया था, ''देखो, किसी के निकट एक पैसा के लिए भी हाथ चित मत करो; तुम्हें मोटा भात और मोटे कपड़े का अभाव नहीं होगा। एक पैसे के लिए भी यदि किसी के निकट हाथ फैलाओ तो उसके निकट माथा झुका कर रहना होगा।''

सारदादेवी कामारपुकुर आयी हैं, यह सुनकर श्यामासुन्दरी देवी ने लड़की को जयरामबाटी ले आने के लिए अपने एक लड़के को भेज दिया। भाई के साथ नहीं जाकर वे कुछ दिनों के बाद गयीं। उनका भिखारिन का वेश देखकर श्यामासुन्दरी रोने लगीं। कुछ दिनों के बाद कामारपुकुर लौटने की उनकी चेष्टा पर उनकी माँ ने उनके साथ जाकर रहने के लिए बहुत कहा। उत्तर में उन्होंने केवल यही कहा, ''अभी तो कामारपुकुर जाती हूँ। इसके बाद वे जो करायेंगे, वही होगा।''

वे कामारपुकुर लौटीं। उनके मन में अनेक प्रकार की भावनाएँ हैं; उनकी माँ की कातरता ने उनकी भावनाओं का परिमाण बढ़ा दिया है। उस समय की अपने मन की अवस्था को उन्होंने इस रूप में प्रकट किया है—''ठाकुर चले गये हैं। एकाकिन सोचती—बच्चे नहीं हैं, कुछ नहीं है, क्या होगा ? और भी कितना क्या मन में होता। एक दिन उन्होंने दर्शन देकर कहा, 'क्यों सोचती हो ? तुम एक लड़के की बात सोचती हो, मैं इतने सारे रत्न-बालक दे गया हूँ, ये सब ही तुम्हें देखेंगे। बाद में और भी कितने लोग तुम्हें 'माँ' कहकर पुकारेंगे तब देखो, लड़कों के आदर-दुलार से इठला न उठना।''

अपने दैन्य की बात वे अधिक दिनों तक छिपाकर रख नहीं पायीं। उन्हें प्रायः अकेली रहना होता, इससे उन्होंने रात्रि-बेला में उनके साथ सोने के लिए एक बूढ़ी धाई को भेज देने का अनुरोध प्रसन्नमयी से किया। उसी बूढ़ी के साथ से ही उनके अभाव की बात प्रकट हो गयी। खबर जयरामबाटी में श्यामादेवी के कानों में गयी। वे पुत्री के भविष्य के विषय में व्याकुल हो गयीं। कुछ व्यवस्था करने के लिए अपने बड़े पुत्र प्रसन्नकुमार को उन्होंने खबर भिजवायी। उस समय प्रसन्नकुमार कलकत्ता में पुरोहित का कार्य करते थे।

प्रसन्नकुमार ने दक्षिणेश्वर जाकर श्रीयुत रामलाल को

खूब फटकारा एवं लौटती बार राह में गोलाप-माँ से मिल-कर उन्हें काफी कड़ी-कड़ी दो-चार बातें सुनायीं, 'तुम लोगों के रहते तुमलोगों की माँ को भात-नमक तक नहीं जुट पाता है' तथा इसी तरह की और भी कई बातें कहीं। गोलाप-माँ श्रीरामकृष्ण के पुरुष भक्तों के घरों में जा-जाकर रुपये एकत्र करने की चेष्टा करने लगीं, जिससे सारदादेवी को कलकत्ता लाकर रखा जाय। शीघ्र ही आवश्यकता के अनुरूप रुपयों की व्यवस्था हो गयी। तब महिला भक्तों ने सारदादेवी को कलकत्ता आकर रहने का अनुरोध करते हुए पत्र लिखे। श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्यों ने भी उनसे कलकत्ता आने की कातर विनती की।

यह समाचार पाकर कामारपुकुर की महिलाओं ने फिर अनेक तरह की बातें करनी शुरू कीं। सारदादेवी ने तब उसी बूढ़ी धाय के द्वारा प्रसन्नमयी का विचार जानने की चेष्टा की। भक्तिमति प्रसन्नमयी ने धाय से कहा, "गदाई के शिष्यगण ही तो बहू के लड़के हैं! वे सब जब अपनी माँ को ले जाना चाहते हैं तो बहू का जाना ही उचित है।" धाय—"गाँव की औरतें जो छिः छिः करती हैं!" प्रसन्नमयी—"वे सब गदाई की पत्नी को क्या जानें? वह जो माँ है, उसे तो जाना ही होगा। वे सब क्या बोलती हैं, क्या नहीं बोलती हैं, यह मैं समझ लूँगी।"

सारदादेवी जानती थीं, कामारपुकुर में प्रसन्नमयी का कितना प्रभाव है। अतएव, वे काफी आश्वस्त हुईं। लेकिन जयरामबाटी के लोग क्या बोलते हैं, अथवा उनकी माँ श्यामासुन्दरी की ही क्या राय है, इसे जानने की भी तो आवश्यकता है! इसी उद्देश्य से वे एक दिन जयराम-बाटी गयीं। उनके जाने के पहले ही वहां संवाद फैल गया था। वहां के सभी उनके कलकत्ता जाने का खूब समर्थन करते हैं, यह देखकर वे आश्वस्त हुईं। कलकत्ते के भक्तों को उन्होंने सूचित कर दिया—कलकत्ता जाने को वे सहमत हैं, यदि इसके कारण किसी को कोई कष्ट न हो।

महिल-भक्तगण अपने साधनपथ में एक सहायक के विशेष अभाव का अनुभव करती थीं। श्रीरामकृष्ण की संगति पाकर साधना का जो बीज उनलोगों के हृदय में अंकुरित हुआ था, उपयुक्त यत्न के द्वारा उसे बढ़ाकर फल-फूल से सुशोभित करने के लिए उन्हें अपने बीच सारदादेवी को पाने की आवश्यकता हुई थी। श्रीरामकृष्ण के तिरोधान के बाद दूसरा कौन उस कार्य में उनलोगों की सहायता करेगा! इसी विशेष भाव से महिला भक्तों के आग्रह पर सारदादेवी के कलकत्ते में रहने की सारी व्यवस्थाएँ हुईं।

१२९४ साल (१८८८ ई०) के अंतिम भाग में भक्तगण उन्हें कलकत्ता ले आये। कलकत्ता आकर सर्वप्रथम वे बलरामबाबू के भवन में पधारीं। वृन्दावन में जो सब उनकी संगिनी थीं उन्होंने देखा कि उनकी (सारदादेवी की) अवस्था बदल गयी है, बालिका का वह भाव अब और नहीं है। धीर, स्थिर, गंभीर मूर्त्ति, उनके रूप की छटा से जैसे चारों दिशाएँ उज्वल हो उठी हैं। ध्यान पर बैठते ही उनका देहज्ञान, जगत् का ज्ञान लुप्त पाया जाता है।

यहीं से उनका कलकत्ता आना-जाना शुरू हुआ। जितने दिन सशरीर थीं, अपना प्रायः आधा समय जयरामबाटी में और आधा समय कलकत्ते में उन्होंने व्यतीत किया। पहली बार के बाद, लगता है, मात्र एक बार और उन्होंने अधिक दिनों तक कामारपुकुर में वास किया था। थोड़े दिनों के लिए आने पर कलकत्ते में पहले वे श्रीरामकृष्ण के परम भक्त बलरामबाबू के घर या श्री श्रीरामकृष्ण कथामृत (हिन्दी में श्रीरामकृष्ण वचनामृत) के लेखक मास्टर महाशय के घर ठहरतीं। और जब अधिक दिनों तक रहतीं तब गंगा के किनारे उनके लिए भाड़े पर मकान ठीक कर देना होता। अंत में स्वामी सारदानन्द के प्रयास से बंगला सन् १३१६ साल (सन १९१० ई०) में कलकत्ते के बागबाजार में उनके निवास के लिए भवन तैयार हुआ। इसी भवन में श्रीरामकृष्ण मिशन के बंगला के मुख्यपत्र उद्बोधन का कार्यालय स्थापित हुआ। भक्तों के बीच यह भवन 'मायेर बाड़ी' (माँ का घर) के नाम से परिचित है।

(क्रमशः)

समाचार एवं सूचनाएँ

विवेकानन्द जयन्ती

पटना : रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना में स्वामी विवेकानन्द की १२१ वीं जयंती गत ५ जनवरी को मनायी गयी। सायंकालीन आरती के उपरान्त आश्रम के प्रज्ञावान् सचिव स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज की अध्यक्षता में एक सभा का आयोजन हुआ। मुख्य वक्ता के रूप में विवेक शिखा के सम्पादक डॉ० केदारनाथ लाभ ने स्वामी विवेकानन्द के जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि स्वामीजी ने मानव निर्माण एवं अच्छा बनो और अच्छा बनाओ का जो मंत्र दिया था उसे आज आतुरता से ग्रहण करने की आवश्यकता है।

स्वामी वेदान्तानन्दजी ने विसंगतियों एवं भंडताओं से भरे वर्तमान भारतीय समाज को स्वामीजी के उपदेशों और आदर्शों पर चलकर स्वस्थ-सुन्दर बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया।

जलालपुर : उच्च विद्यालय, जलालपुर, सारण (बिहार) में १२ जनवरी को स्वामी विवेकानन्द जयन्ती समारोह आयोजित हुआ। इस ग्रामीण अंचल में पहलीवार विवेकानन्द जयन्ती मनायी गयी। आरंभ में रेडियो कलाकार श्री भूषण ने सूरदास रचित स्वामीजी का एक प्रिय गीत 'प्रभु मेरो अवगुन चित न धरो' गाकर वातावरण को एक आध्यात्मिक मोहकता प्रदान कर दी। अध्यापक श्री केदार दीक्षित ने स्वागत भाषण किया। प्रो० सुरेश कुमार मिश्र ने स्वामी विवेकानन्द पर कविताएँ पढ़ीं। मुख्य अतिथि डॉ० केदारनाथ लाभ ने प्रायः १२० मिनटों के अपने व्याख्यान में स्वामी विवेकानन्द के जीवन, कर्म एवं उपदेशों पर प्रकाश डाला। समारोह की अध्यक्षता की विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री नंदजी तिवारी ने।

रामकृष्ण मंदिर—विवेकानन्द भवन—शिलान्यास समारोह

मुजफ्फरपुर : (बिहार) गत ३० जनवरी को यहाँ के रामकृष्ण विवेकानन्द सेवाश्रम में रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना के सचिव स्वामी वेदान्तानन्दजी द्वारा श्रीरामकृष्ण मन्दिर और स्वामी विवेकानन्द भवन का शिलान्यास किया गया। मन्दिर निर्माण समिति के अध्यक्ष श्री जयमंगल शर्मा ने अतिथियों का स्वागत किया और स्वामी असीमानन्दजी ने प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

उच्चतम न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायमूर्ति नंदलाल ऊँटवालिया ने समारोह का उद्घाटन किया। स्वामी वेदान्तानन्दजी ने अध्यक्ष पद से बोलते हुए मंदिर निर्माण के निमित्त उदारतापूर्वक दान देने की लोगों से अपील की। रामकृष्ण मिशन बालकाश्रम, रहड़ा (पश्चिम बंगाल) के स्वामी निखिलात्मानन्दजी ने मुख्य वक्ता के रूप में अपने अभिभाषण में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के जीवन के विभिन्न पक्षों का बड़े रोचक एवं उदात्त रूप से उद्घाटन कर श्रोताओं को विभोर कर दिया। श्री आर० आर० टंडन ने धन्यवाद ज्ञापन किया। समारोह की सफलता में श्री कामेश्वर मिश्र, एस० डी० ओ० मुजफ्फरपुर पश्चिम तथा श्री अरुण बोस आदि ने सराहनीय योगदान किया।

श्री रामकृष्ण जन्मोत्सव :

पटना : श्रीरामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना में १६ मार्च १९८३ से भगवान श्रीरामकृष्ण का शुभ जन्मोत्सव मनाया जायगा। इस अवसर पर १९ मार्च को आयोजित विद्यार्थी दिवस का सभापतित्व करेंगे अध्यापक श्रीहरि प्रसाद और मुख्य अतिथि होंगे स्वामी निखिलात्मानंदजी महाराज। २० मार्च की आम सभा में 'सर्वहित-साधक श्रीरामकृष्ण' विषय पर व्याख्यान होंगे। सभापति होंगे स्वामी निखिलात्मानन्द और मुख्य अतिथि अध्यापक श्रीहरि प्रसाद। २१, २२ एवं २३ मार्च को संध्या ६-४५ से रामचरित मानस के आधार पर स्वामी निखिलात्मानन्दजी का प्रवचन होगा।

खेतड़ी : युगावतार भगवान श्रीरामकृष्णदेव का १४८ वाँ जन्मोत्सव रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द स्मृति मन्दिर, खेतड़ी, राजस्थान में बुधवार, १६ मार्च १९८३ को मनाया जायगा। इस अवसर पर प्रातः ६ बजे मंगल आरती के उपरान्त उपनिषद् पाठ, पूजा और भजन तथा आरती और प्रसाद वितरण होंगे। सायं ६ बजे संध्यारती के बाद भजन-संकीर्त्तन तथा श्रीरामकृष्णजी के जीवन पर प्रवचन भी होंगे।